वर्ष ५ अंक १ जनवरी १९८९

उन्मीलन

मानसिक हिन्द-स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य

सहयोगी

गोविन्दचन्द्र पांडे, दयाकृष्ण,
राजेन्द्रप्रसाद पांडेय, रमेशचन्द्र शाह

दर्शन प्रतिष्ठान

1

वाक्यपदीय में कारणता की अवधारणा: क्या यह विवर्तवादी है ?

देवेन्द्रनाथ तिवारी

जगदुत्पत्ति सम्बन्धी प्रश्नों : यथा सृष्टि का प्रादुर्भाव कैसे हुआ, किस कारण द्वारा इसकी रचना हुई : का जिन जटिल सिद्धान्तों के द्वारा समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाता है उन्हें तत्त्वमीमांसीय चिन्तन में कारणता का सिद्धान्त कहा जाता है। भारतीय दर्शन में इन समस्याओं पर मोटे रूप में दो प्रकार के विचार मिलते हैं।

(1) जगदुत्पत्ति की व्याख्या बुद्धि से अचिन्तनीय होने पर भी जगत् की रचना व्यवस्थित है और इस व्यवस्थित सृष्टि को कार्य-रूप मानकर उसके उपादान कारण के रूप में कार्य से अतिरिक्त उपादान कारण की कल्पना और व्यवस्थित कार्य को देखकर किसी व्यवस्थापक या उत्पादक के रूप में निमित्त कारण की कल्पना अनिवार्य हो जाती है। उपादान कारण और निमित कारण कुछ दर्शनों में एक ही तत्त्व माना गया है, जैसे अद्वैत में, और कुछ दर्शनों में दोनों पृथक्-पृथक् स्वीकार किये गये हैं—जैसे न्याय में। ऐसे दार्शनिक सिद्धान्तों में कार्य को सीमित, सान्त स्वीकार कर उसके कारण के रूप में असीम, अनन्त की कल्पना की जाती है और ऐसी कल्पना को प्रामाणिक दिखाने के लिये सीमित से अनन्त के अनुमान के औचित्य-प्रतिपादक तर्क दिये जाते हैं।

(2) एक विचार-तंत्र में सत् की अवधारणा कर ली जाती है और उसी अवधारणा के अनुसार जीव, जगत् रचना एवं सम्बन्ध आदि समस्याओं का समाधान निगमित कर लिया जाता है। ऐसे विचार-तंत्रों में समस्या के समाधान में संगतता का विशेष महत्त्व होता है। सत् की अवधारणा के साथ अन्य समस्याओं की अवधारणा की संगतता चिन्तन की सफलता की कसौटी मान ली जाती है।

भारतीय दर्शन में कारण-कार्य सम्बन्ध की विभिन्न व्याख्याओं को स्थूल रूप से सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद इन दो वर्गों में रखा जा सकता है।

सत्कार्यवादी व्याख्या में कार्य को उत्पत्ति के पहले कारण में विद्यमान स्वीकार किया जाता है और असत्कार्यवादी व्याख्या में कार्य को उत्पत्ति के पूर्व न केवल कारण में विद्यमान

नहीं स्वीकार किया जाता बल्कि कार्य को सर्वथा नई उत्पत्ति स्वीकार किया जाता है, जैसाकि बौद्ध और न्याय दर्शन-संप्रदायों में देखा जाता है।

सत्कार्यवादी व्याख्या भी मुख्य रूप से प्रकृति–परिणामवाद एवं ब्रह्म–परिणामवाद के रूप में की गयी है। प्रकृति–परिणामवाद सांख्य दर्शन का अभिमत है जिसके अनुसार कार्य (जगत्) अपनी उत्पत्ति से पूर्व अपने उपादान कारण (प्रकृति) में अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। रामानुज के ब्रह्म-परिणामवाद के अनुसार उपादान कारण ब्रह्म है जिसमें जगदादि अव्यक्त (अंश) रूप में अपनी उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान रहते हैं।

शांकर मत में कारणता की व्याख्या एक भिन्न प्रकार से मिलती है। शंकराचार्य ने कार्य-कारणभाव में जगत् की सत्कार्यवादी व्याख्या का समर्थन किया है तथापि व्यवहार और परमार्थ के भेदपूर्वक उन्होंने कार्य-कारण सिद्धान्त को व्यावहारिक जगत् की व्याख्या तक सीमित माना है और परमार्थतः इस सिद्धान्त की अप्रासंगिकता को स्वीकार करते हुए विश्व-रूपी कार्य के कारण (ब्रह्म) को कार्यकारणादि भावों से सर्वथा रहित स्वीकार किया है।[1] जगत् की व्याख्या सम्बन्धी[2] उनके विवर्तवाद को सीधे तौर पर सामान्य अर्थ में प्रयुक्त सत्कार्य-वाद की कोटि में नहीं रखा जा सकता है। शंकर का विवर्तवाद (जिसे मायावाद और अध्यासवाद नाम से भी कहा जाता है) कार्य (जगत्) को मिथ्यारूप में देखता है। ब्रह्म ही एकमात्र अद्वय सत् है जो निर्विकार, निर्विकल्पक है। शंकर एवं उनके अनुयायियों (सुरेश्वर, वाचस्पति, विद्यारण्य एवं आनन्दगिरि) को लगता है कि ब्रह्म की निर्विकार, निर्विकल्पक अव-धारणा को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिये जगत् को मिथ्या बताना एक तार्किक आवश्यकता है। शांकर मत में ब्रह्म को जगत् का विवर्त कारण और जगत् को ब्रह्म का विवर्त कार्य माना गया है। यहां 'विवर्त' शब्द का प्रयोग पारिभाषिक रूप में हुआ है जिसके अनुसार इसका अर्थ मिथ्या कार्य है। 'मिथ्या' का तात्पर्य यहां जगत् के सद्सत् से अनिर्वचनीय स्वरूप से है। शंकर जगत् (कार्य) और ब्रह्म (कारण) से उसके सम्बन्ध दोनों की व्याख्या मिथ्या के रूप में करते हैं और ब्रह्म(कारण)को जगत् से अतीत, देश-कालातीत अतः कारणता से अतीत रूप में स्वीकार करते हैं। इस पूरी प्रक्रिया में एकमात्र सत् ब्रह्म है और जगदादि उसी पर आरो-पित हैं। इस अध्यारोप का अधिष्ठान ब्रह्म सत् है। अतः सत्कार्यवाद की हानि नहीं होती है। किन्तु कार्य मिथ्या है और कारण ही अविद्यावश कार्यरूप में आभासित होता है, यह मानने पर सत्कारणवाद ही उपयुक्त ठहरता है। इसे ही चेतनकारणवाद अथवा ब्रह्म-कारणवाद भी कहते हैं। सत्कारणवाद का अर्थ भी मात्र यह है कि सृष्टि–प्रक्रिया में केवल कारण सत् है और सृष्ट्यादि समस्त कार्य मिथ्या है। जगत् कारण पर अध्यारोप पूर्वक कार्य है, विवर्त है। शांकर वेदान्त के अनुसार कारणता परस्पर की अपेक्षा रखती है, इसमें अन्यान्याश्रय की अपेक्षा है, जबकि ब्रह्म कार्य–कारण-भावातीत, कार्य-कारणभाव–रहित है। अतः कार्य एवं कारण के परस्पर सम्बन्ध की हानि स्वीकारना तार्किक आवश्यकता है। शंकर के अनुसार कारणता का सिद्धान्त सापेक्ष है और यह निरपेक्ष पर लागू नहीं होता है। आचार्य शंकर

---

2. न तत्र कर्तृत्वं भोक्तृत्वं वा क्रियाकारणफलं वा स्यादद्वैतत्वात्सर्वभावानाम्। प्र. उ. शां. भा. 6–3

2: ब्र. सू. शां भा. – अध्यासभाष्य

लिखते हैं 'तथेदं प्रपंचाख्यं मायामात्रं द्वैतं रज्जुवन्मायाविवच्चाद्वैतं परमार्थतः तस्मान्न कश्चित्प्रपंचः प्रवृत्तो-निवृत्तो वास्तीत्यभिप्रायः।''[3] अर्थात् यह द्वैत प्रपंच मायामात्र है, रज्जु या मायावी के समान परमार्थतः केवल अद्वैत ही है। कोई प्रपंच न तो प्रवृत्त होता है और न ही निवृत्त होता है। ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य में आचार्य ने स्पष्ट कहा है कि "मायामात्रं ह्येतद्-परमात्मनोऽवस्थात्रयात्मनावभासनं रज्वा इव सर्पादि भावेनेति।"[4] जैसे रज्जु की सर्पादिरूप प्रतीति मिथ्या है वैसे ही परमात्मा में उत्पत्ति, स्थिति एवं लयरूप विश्व की प्रतीति मिथ्या है। आचार्य की उक्ति है "पारमार्थिकेन च रूपेण सर्वव्यवहारातीतं अपरिणतमवतिष्ठते" अर्थात् परमार्थतः ब्रह्म सभी व्यवहारों (देशकाल, कारणता) से अतीत और परिणाम-रहित अवस्थित है।[6] इस परिस्थिति में कारण-कार्य भाव में यदि सृष्टि की व्याख्या की जाय तो विवर्तवाद ही उपयुक्त ठहरेगा, जिसके अनुसार कार्य का विचार अध्यारोपित है; वस्तुतः ब्रह्म अकर्त्ता है। यदि यह सही है कि निर्विकार ब्रह्म की अवधारणा के आधार पर कारणता की सर्वथा हानि ही निगमित होती है तब सृजनात्मकता-रहित सत् की अवधारणा में जगत् की व्याख्या की समस्या ही समाप्त हो जाती है। प्रश्न उठता है कि क्या सत् की निर्विकार अवधारणा को सुरक्षित रखने के लिये जगत् को मिथ्या (विवर्त) मानना अपरिहार्य रूप से आवश्यक है? रामानुज अद्वैत की इस सम्भावना से सहमत नहीं दीखते हैं।

आगम-प्रधान काश्मीर शैव दर्शन की मान्यता के अनुसार परम तत्त्व शिव है और वह शक्ति भी है। यह ज्ञान और क्रिया, प्रकाश और विमर्श रूप है। विमर्श शिव तत्त्व का स्वरूप है। इसे शिव की स्वातंत्र्यशक्ति भी कहा गया है। कार्यकारण की आभासवादी व्याख्या में काश्मीर शैव-दार्शनिकों ने जगत् को शिव का विमर्श माना है। यहां अद्वैत की हानि के बिना ही कारण और कार्य दोनों को सत् स्वीकार किया गया है और शिव तत्त्व के निर्विकार स्वरूप की भी सफल व्याख्या की गयी है। शिव का विमर्श शिव में विकृति का द्योतक नहीं है, उसकी पूर्णता का द्योतक है। उदाहरण के लिये योगी यदि विमर्शपूर्वक किसी शहर को निर्मित करता है तो शहर को योगी का कार्य कहा जा सकता है। किन्तु उस शहर के विमर्श से योगी के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं हो जाता और न ही उस शहर को योगी का विमर्श-रूप होने से मिथ्या ही कहा जा सकता है। योगी की तरह शिव सृष्टि के लिए स्वतंत्र है और शिव का विमर्श सृष्टि है। इस प्रकार शिव के विमर्श के रूप में सृष्टि को सत् मानने पर न तो अद्वैत की हानि होती है न शिव तत्त्व के निर्विकार स्वरूप की ही हानि होती है, और सत्तत्त्व से सत् कार्य (सृष्टि) की समुचित व्याख्या भी हो जाती है।

---

3. मा. का. शां. भा. १–१७
4. ब्र. सू. शां. भा. २–१–९
5. ब्र. सू. शां. भा. २–१–२७
6. बृहदारण्यकवार्तिकसार –१–४– वा २८४–८६

भर्तृहरि के कारणता-सिद्धान्त की व्याख्या मुख्यतः दो प्रकार से की जाती रही है। पहली व्याख्या विवर्तवादी है। व्याख्याकारों ने भर्तृहरि के चिंतन को शंकर की विवर्तवादी दृष्टि से देखा है। टीकाकार हेलाराज ने कार्य–रूप जगत् से ब्रह्म के सम्बन्ध को 'विवर्त' (मिथ्या) के अर्थ में लिया है और उनके बाद के व्याख्याकारों भाव-प्रदीपकार सूर्यनारायण शुक्ल, अम्बाकर्तृ टीकाकार आचार्य रघुनाथ शर्मा, के. एस. अय्यर एवं सुन्दरम् पिल्ले ने इस दृष्टि का ही समर्थन किया है। इसका एक कारण सम्भवतः वाक्यपदीय में 'विवर्त' शब्द की बार-बार अनुवृत्ति हो सकता है और दूसरा कारण इसमें शांकर विवर्तवाद के अनुरूप दृष्टान्तों का होना भी कहा जा सकता है। वास्तव में वाक्यपदीय की अनेकानेक व्याख्याएं सम्भव हैं और इन व्याख्याकारों ने इसकी विवर्तवादी व्याख्या को ही महत्त्व दिया है। इन व्याख्याकारों ने स्वीकार किया है कि भर्तृहरि के चिंतन में शब्द-ब्रह्म एकमात्र सत् है और कार्य रूप में स्वीकृत अनेकता ब्रह्म पर अध्यारोपित है, विवर्त है। ये 'विवर्त' शब्द की व्याख्या अनिर्वचनीय (मिथ्या) कार्य के वाचक के रूप में ही करते हैं। इसका कारण संभवतः यह है कि टीकाकार हेलाराज के समय शांकर मत चर्चित था और भर्तृहरि (जो शंकर के पूर्व के चिंतक हैं) की व्याख्या करते समय वे शांकर मत से प्रभावित रहे। हेलाराज के बाद के व्याख्याकारों पर हेलाराज का प्रभाव अत्यधिक रहा है। यही कारण है कि भर्तृहरि के विचार के शांकर विवर्तवाद के रूप में विकसित होने का संयोग बैठता गया। किन्तु कुछ ऐसे भी विद्वान हैं जो भर्तृहरि के चिंतन में विवर्तवाद की अपेक्षा परिणामवाद दिखाने का प्रयास करते हैं। ये विद्वान वाक्यपदीय को योगाचार-परिणामवाद की दृष्टि से समझने का प्रयास करते हैं। ऐसे भी समीक्षक हैं जो यह स्वीकार करते हैं कि भर्तृहरि में विवर्तवाद और परिणामवाद दोनों के अवसर हैं। किन्तु इन समीक्षकों का झुकाव भी विवर्तवाद की तरफ ही है। यह सही है कि भर्तृहरि के चिंतन की विभिन्न प्रकार से व्याख्या की जा सकती है, किन्तु दूसरी दृष्टियों से विचार के प्रयत्न ही नहीं हुए। हरिवृत्ति स्वयं वाक्यपदीयकार की टीका है अथवा अन्य की ? यह विषय भी विचारणीय है।[7] आवश्यकता इस बात की है कि हम भर्तृहरि के अपने सिद्धान्त को ढूंढें जो उनके आगम-चिंतन के साथ संगत बैठ सके। इस दिशा में यह लेख एक प्रयास है।

भर्तृहरि ने अपने व्याकरण-दर्शन को आगम-चिन्तन के आधार पर प्रतिष्ठित किया है। आगम के शक्तिवादी चिंतन की छाप वाक्यपदीय से स्पष्ट झलकती है। उन्होंने तत्त्व को शब्द (ब्रह्म) माना है। तत्त्व को शब्द कहने का तात्पर्य तत्त्व में शक्ति या सृजनात्मकता स्वीकार करना है। तत्त्व की सृजनात्मकता ही समस्त विश्व है। दूसरे शब्दों में शब्द-तत्त्व की शक्ति से समस्त विश्व का व्यवर्तन होता है और उसी तत्त्व में समस्त विश्व एवं तत्त्व की शक्तियां लय को प्राप्त होती हैं।[8] क्रियावाचक शब्द 'व्यवर्तन' के अनेक अर्थ किये

---

7. यद्यपि मम्मट एवं न्यायमंजरीकार जयन्त का उल्लेख करते हुए भावप्रदीप टीका की भूमिका में पं. रामगोबिन्द शुक्ल अम्बाकर्तृ टीकाकार आचार्य रघुनाथ शर्मा एवं अन्य विद्वानों ने इसे भर्तृहरि की ही टीका स्वीकार किया है किन्तु इस मान्यता के पक्ष में इन विद्वानों ने कोई प्रामाणिक युक्ति प्रस्तुत नहीं की है।

8. वाक्यपदीय १–१ एवं १–१७.

जाते हैं। यह शब्द विमर्श, परिणाम, विवर्त (मिथ्या कार्य) आभास, अभिव्यक्ति इत्यादि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है। ऐसी मान्यता है कि यह विश्व तत्त्व का 'व्यवर्तन' है। मूल प्रश्न यह है कि क्या 'व्यवर्तन' मिथ्या है? यदि यह मिथ्या है तो व्यवर्तन-क्रिया भी मिथ्या होगी और यदि व्यवर्तन-क्रिया मिथ्या होगी तो तत्त्व की सृजनात्मकता (शक्ति) भी मिथ्या होगी और ऐसी परिस्थिति में शब्दतत्त्व शक्ति–रूप नहीं होगा और ऐसे अशक्त तत्त्व से सृष्टि की कल्पना असंगत होगी। भर्तृहरि के अनुसार शब्द की शक्ति शब्दतत्त्व की संसक्तता है, उसकी जीवन्तता है उसकी चेतनरूपता है।[9] सृष्ट्यादि से शून्य की स्थिति में भी शब्द की शक्ति शब्द-ब्रह्म में अव्यक्त रूप से निहित रहती है जिसे वह संकल्प द्वारा सृष्टिरूप में व्यक्त करता है। भर्तृहरि ने सृष्टि और लय की व्याख्या कालशक्ति की प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा नामक शक्तियों के द्वारा की है। इन शक्तियों के द्वारा सृष्टि और लय उसी प्रकार सचालित होते हैं जिस प्रकार बहेलिया पक्षी को फँसाने के लिये एक सूत्र में एक पक्षी बांधकर सूत्र को फैलाता है और खींचता है। सूत्र का फैलाव और संकोच बहेलिये के अधीन होता है और फैलाव-संकोच के रूप में वह सूत्र का संचालन करता है। भर्तृहरि मानते हैं कि कार्य अव्यक्त का व्यक्त होना है और व्यक्त होने की शक्ति शब्द-ब्रह्म में है।[10] अतः शब्द-ब्रह्म जगत् का निमित्तोपादान कारण है। यह अव्यक्त भाव रामानुज की तरह अंशांशी रूप नहीं है। अव्यक्तावस्था में शक्ति शब्दब्रह्म में उसके स्वरूप में निहित रहती है, अंशरूप में नहीं। इस शक्ति को प्रतिबन्धरूपा कह सकते हैं और यह प्रतिबन्ध-स्थिति अभ्यनुज्ञा शक्ति द्वारा व्यक्त होकर सृष्ट्यादि भाव को प्राप्त होती है। शक्तिरूपता या सृजनात्मकता शब्द तत्त्व के स्वरूप को सीमित नहीं कर देती है क्योंकि सृजनात्मकता या सृष्ट्यादि उसका स्वभाव है और वह सृजनात्मकता से अतिरिक्त भी है। वह सृष्टि और लय दोनों का कारण है और इन क्रियाओं का सूत्रधार है।

भर्तृहरि का 'शब्द मात्रात्मक' सृष्टि का सिद्धान्त दार्शनिक चिंतन में अपनी एक अलग पहचान रखता है। मात्रा शक्ति की द्योतक है और इस मात्राशक्ति से शब्द विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होता है। स्वर–व्यंजनात्मक समस्त शब्द–व्यवस्था एवं उनसे व्यंजित अर्थ शब्द की मात्रात्मक अभिव्यक्ति है। व्यंजन स्वर पर आश्रित होकर[11] नाना शब्दार्थ-रूपी विश्व के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। इस अभिव्यक्ति में शब्द तत्त्व का जो अनुत्तर-रूप है उसे भर्तृहरि पश्यन्ती कहते हैं। मूल स्वरूप में पश्यन्ती अक्रमा, उपसंहतरूपा, संवित्रूपा है।[12] अन्य क्रमादिरूप में अभिव्यक्त होने वाली शक्ति भी निस्पन्द रूप में, अक्रम रूप में इसमें निहित होती है। यह अव्यक्तावस्था मूल है, अन्य अवस्थाओं का बीज है। भर्तृहरि के शब्द-द्वैतवाद में पश्यन्ती ही परम तत्त्व है जिसे अन्य अनेक संज्ञाओं से भी कहा गया है। यह उपलब्धा है क्योंकि क्रमादि रूप में अभिव्यक्त होने वाली शक्ति भी निस्पन्द रूप में, अक्रमरूप में, उसमें

9. वही १–१२४
10. वाक्यपदीय, काल समुद्देश, ३–१५
11. वाक्यपदीय १–११७
12. वही १–१४३, हरिवृत्ति, अम्बाकर्तृ एव भावप्रदीय टीका

निहित होती है और क्रमादि की अभिव्यक्ति पश्यन्ती से ही स्पन्दित होती है। यह समाहिता है क्योंकि क्रमादि शक्तियाँ एका साथ इसमें समाहित होती हैं। यह विशुद्धा है क्योंकि ज्ञानी को वाणी में अक्रमरूप अथवा अपभ्रंश से असंकीर्ण रूप का बोध होता है। यह सन्निविष्टज्ञेयाकारा है क्योंकि ज्ञान में ज्ञेय की तरह ये (वस्तुएं) इसमें आविष्ट रहती हैं। यह निराकारा है क्योंकि इसकी स्थिति ज्ञान की त्रिपुटी से परे की है। यह प्रत्यवमर्षिनी है क्योंकि प्रकाश-रूप होते हुए समस्त ज्ञेय का प्रकाशन उसी से होता है। अक्रम चैतन्यरूपा पश्यन्ती अपनी विमर्शरूपता के कारण अदृष्ट क्रम के रूप में या आन्तर विचार के रूपों में अभिव्यक्त होती है तो उसे मध्यमा कहा जाता है।[13] यह स्वसंबंध–स्थिति है और चिंतन के रूप में बुद्धि में स्थित (मानसिक) होती है। यही जब कण्ठ, तालु आदि स्थानों से ध्वनि रूप में अभिव्यक्त होती है तो वैखरी कही जाती है,[14] जो प्रयत्न-प्रतिभा-भेद से नानार्थक विश्व कही जाती है। इस प्रकार स्थूलरूप सृष्टि जो हमारे समस्त ज्ञान-विज्ञान का आधार है, अपनी सृष्टि से पूर्व ब्रह्म के चिन्तन या संकल्परूप में निहित होती है और इसकी सूक्ष्मतम स्थिति में यह शब्दतत्त्व की अव्यक्त शक्ति या चैतन्य रूप में निहित रहती है। यही सूक्ष्म स्थिति संकल्प रूप में मध्यमा में और वस्तु रूप में वैखरी में अभिव्यक्त होती है। इस पूरी प्रक्रिया में शब्दतत्त्व में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता है। वह जन्मादि (विकारों) के रूप में अभिव्यक्त होकर भी निर्विकार बना रहता है। उदाहरण के लिये कवि की कविता अभिव्यक्त होने से पूर्व चितन के रूप में उसकी बुद्धि में और चिंतन-पूर्व सूक्ष्म रूप से (अपृथक्रूप से) उसकी चेतना में अनभिव्यक्त रहती है। पहले स्तर पर, यानी पश्न्यती के स्तर पर पूर्ण अभेद की स्थिति, मध्यमा में स्वसंवेद्य भेदपूर्वक अभेद की स्थिति और वैखरी के स्तर पर स्पष्ट भेद-पूर्वक अभेद की स्थिति होती है। शब्द-ब्रह्म की शक्ति क्रमशः सूक्ष्म से स्थूल रूप को प्राप्त होकर नाना भेदों को जन्म देती है।

जगत् अर्थरूप है और अर्थ है शब्द की अभिव्यक्ति, जो शब्दब्रह्म की कालादि रूप से कही जाने वाली शक्ति के द्वारा अभिव्यक्त होती है। इस प्रकार शब्द-ब्रह्म जगत् का निमित्तोपादान कारण है। यह शक्ति प्रतिबन्ध, और अभ्यनुज्ञा के भेद से जानी जाती है और प्रतिबन्ध-अभ्यनुज्ञा-शक्तियों के द्वारा ही अनभिव्यक्त व्यक्त होता है और अभिव्यक्त अव्यक्त होता है। यह क्रिया समस्त विश्व में चलती रहती है। परिणाम-स्वरूप जन्म आदि विकृतियाँ अभिव्यक्त रहती हैं।[15]

शांकर वेदान्त में ब्रह्म को निमित्तोपादान कारण स्वीकार किया गया है। किन्तु सही अर्थ में माया ही निमित्तोपादन है। माया ब्रह्म की नहीं, ईश्वर की शक्ति है क्योंकि ब्रह्म को मायातीत कहा गया है और ईश्वर का प्रत्यय स्वयं ब्रह्म पर आरोपित है। अतः ब्रह्म में प्रत्यक्ष रूप से निमित्तोपादान की अवधारणा नहीं बन पाती। माया स्वयं ब्रह्म के स्तर पर नहीं है और ब्रह्म सत् होते हुए भी क्रिया नहीं है, सृजनशील नहीं है। तर्कतः सृष्टि हो ही नहीं

---

13. वही १–१४३
14. वही १–१४३
15. वाक्यपदीय, काल समुद्देश ३–१४ एवं वा. प. १–३

सकती। यही कारण है कि शंकर को सृष्टि की व्याख्या के लिये अध्यासवादी सिद्धान्त का सहारा लेने पड़ा। इस अध्यासवादी विवर्तवाद में स्रष्टृत्व मिथ्या नहीं है, वह शक्ति है। सृष्टि भी मिथ्या नहीं है क्योंकि सृष्टि शब्द-तत्त्व की शक्ति–रूपता है, सृजनात्मकता है। स्रष्टृत्व शब्द–ब्रह्म की शक्तिरूपता है, विमर्श है।[16] भर्तृहरि ने 'विवर्त' शब्द का प्रयोग प्रायः किया है, किन्तु इनके 'विवर्तत' के प्रयोग को मिथ्या के अर्थ में नहीं लिया जा सकता है। भर्तृहरि ने चेतन तत्त्व (शब्द-ब्रह्म) से जड़चेतनात्मक समस्त अर्थों की अभिव्यक्ति के वाचक के रूप में 'विवर्त' शब्द का प्रयोग किया है। इस बात को वाक्यपदीय के प्रथम श्लोक[17] की व्याख्या द्वारा समझा जा सकता है जिसके अनुसार आदि–अन्तरहित अतएव नित्य, अविनाशी शब्द-तत्त्व ही ब्रह्म है और इसी शब्द–ब्रह्म से जगत्-प्रक्रिया अर्थ रूप में विवर्तित होती है। वि उपसर्ग पूर्वक वृत् धातु से घञ् पूर्वक बने 'विवर्त' शब्द के अनेक अर्थ शब्दकोष में देखने को मिलते है। अविनाशी और शुद्ध रूप में रहने वाले शब्दतत्त्व से अर्थरूप सृष्टि की अभिव्यक्ति मानने में कोई तार्किक दोष नहीं उत्पन्न होता है। अभिव्यक्ति में तत्त्व के सृष्टि-व्यापार रूप में सक्रिय रहने पर भी उसके स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता है, वह अपने स्वरूप का परिहार किये बिना ही अपने को भिन्न-भिन्न रूपों में अभिव्यक्त कर देता है : जैसे योगी अपने योग-बल से अनेक पदार्थों की अभिव्यक्ति कर देता है या कवि के स्वरूप में व्यभिचार हुए बिना ही अनेकानेक भावयुक्त कविताओं की अभिव्यक्ति होती है। अगर 'विवर्त' शब्द को मिथ्या आरोप के अर्थ में प्रयुक्त मानेंगे तो 'तत्त्व विवर्तित' होता है इस धातु शब्द का प्रयोग न करके 'तत्त्व का विवर्त है' या 'तत्त्व पर सृष्टि अध्यारोपित हुई है' ऐसा कथन करना ही संगत होगा। किन्तु कारिका में प्रयुक्त 'विवर्तते' शब्द क्रियावाचक है और कारण की क्रियाशीलता या सृजनात्मक स्वभाव का द्योतक है। भर्तृहरि की उक्ति है : एकमेव यदाम्नातं भिन्नं शक्तिव्यपाश्रयात् अपृथक्त्वेपि शक्तिभ्यः पृथक्त्वेनैव वर्तते,[18] अर्थात् तत्त्व एकमेवाद्वितीय है और अद्वयतत्त्व की शक्ति ही भिन्न (भेद) रूप मे अभिव्यक्त होती है। अद्वय तत्त्व स्वयं अभिन्न होकर भी शक्तियों के द्वारा भिन्न रूप में अपना फैलाव करता है। इस कारिका में भर्तृहरि के शक्तिवादी होने की स्पष्ट झलक मिलती है। तत्त्व शक्ति के द्वारा भिन्नता को प्राप्त होता है। शक्ति ब्रह्म से पृथक् नहीं है, वह ब्रह्म की ही शक्ति है और उसके स्वभाव के रूप में, सृजनात्मकता के रूप में उसमें निहित रहती है। शक्ति क्रिया की प्रतीक है और यह क्रिया चूँकि शब्द-ब्रह्म का स्वभाव है अतः अपूर्णता की द्योतक नहीं है। शक्ति की क्रियात्मकता या सृजनात्मकता ही नानारूपात्मक जगत् के रूप में अभिव्यक्त होती है। भेद की स्थिति में भी तत्त्व अद्वय रहता है और भेद भी उसी की अभिव्यक्ति है। इस समग्रतावादी चिंतन में शब्द-तत्त्व भाव-अभाव सभी रूपों में अभिव्यक्त होकर भी निर्विकार, अद्वय बना रहता है। शक्ति ब्रह्म-तत्त्व का स्वातंत्र्य है और नानारूपों की अभिव्यक्ति उसी के द्वारा होती है। अतः नानारूपात्मक जगत् को अध्यारोप मानने की आवश्यकता नहीं दिखती

---

16. वाक्यपदीय १–२४
17. वही १–१
18. वही १–२

है। जगत् को पश्यन्ती का विमर्श मानना ही उपयुक्त है। इसे भर्तृहरि निम्न श्लोक में स्पष्ट करते हैं–अध्याहित कला यस्य कालशक्तिमुपाश्रितः। जन्मादयो विकाराः षड् भावभेदस्य योनयः। इस श्लोक की व्याख्या में पं. सूर्यनारायण शुक्ल एवं आचार्य रघुनाथ शर्मा ने हेलाराज का अनुसरण करते हुए 'अध्याहित' शब्द को 'अध्यारोपित' अर्थ में प्रयुक्त दिखलाया है और इस प्रकार यह दिखलाने का प्रयास किया है कि यह श्लोक विवर्तवादी मत की पुष्टि करता है। किन्तु अधि-आ-धा-क्त् पूर्वक 'अध्याहित' शब्द का अर्थ सम्यक् प्रकार से धारण करना है। 'कला' शब्द 'भेद' (नाना-रूपात्मक जगत्) के लिये प्रयुक्त है। शब्द-ब्रह्म की नानारूपात्मक सृष्टि उसकी काल-शक्ति के द्वारा सम्यक् प्रकार से धारण की गयी है। कालशक्ति द्वारा ही जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, ह्रसति, नश्यति ये छः कार्य अभिव्यक्त होते हैं जो पदार्थों (भावों) में क्रमिक भेद के कारण हैं। कार्य काल में सम्पन्न होते हैं और काल-क्रम में अभिव्यक्त होते हैं। काल-शक्ति जायते आदि छः कार्यों की अभिव्यक्त करती है जिसके कारण क्रमशः पदार्थों का भेद दृष्टिगोचर होता है। ब्रह्म की शक्तिरूपा स्थिति ही भोक्ता (जीव), भोक्तव्य (ज्ञेय पदार्थ) और भोग (दुःख-सुखादि) रूप में अभिव्यक्त है। समस्त रूपों में शब्दब्रह्म की शक्ति की अभिव्यक्ति तत्त्व की सर्वरूपता और सम्पूर्णता की द्योतक है। भर्तृहरि का कथन है–'एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा। भोक्तृ-भोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण-च स्थितिः।[20] अर्थात् तत्त्व एक होते हुए भी अनेक रूपों को अभिव्यक्त करता है। अनेकता का मूल कारण शक्ति है। अनेकता उस शक्ति की सृजनात्मकता है। तत्त्व के शक्ति-रूप होने की अनिवार्य शर्त उसकी क्रियाशीलता है, अभिव्यक्त होने की समर्थता है, एक होते हुए भी बहुविध सृजन की क्षमता है। अतः यह मानने में कोई तार्किक कठिनाई नहीं है कि सत् एक होते हुए भी सब रूपों में अपने को अभिव्यक्त करता है। जिस प्रकार चेतना जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्त अवस्थाओं में संचार करती हुई भी एक, अद्वय एवं निर्विकार बनी रहती है उसी प्रकार चैतन्य तत्त्व (शब्द-ब्रह्म) शक्तियों के आश्रय से विभिन्न रूपों की अभिव्यक्ति करता हुआ भी अपने स्वरूप में परिवर्तन का भागी नहीं बनता है। वह विभिन्न रूपों में अपने ही स्वरूप को प्रकाशित करता है। इसी आशय की पुष्टि निम्न श्लोक में की गयी है – "अथायमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्म वागात्मना स्थितः। व्यक्तये स्वस्वरूपस्य शब्दत्वेन विवर्वते।"[21]

शब्द ही आंतर ज्ञाता (आत्मा) है जिसमें वागात्मा (शब्द) सूक्ष्म रूप से निहित है, और वही सूक्ष्म शब्द अपने स्वरूप को प्रकट करने के लिये ध्वनि द्वारा निष्पादित शब्द रूप में अभिव्यक्त होता है। 'विवर्तते' शब्द 'बहिः शब्द रूपों भवति' अर्थ में प्रयुक्त होकर पश्यन्ती की स्थूल अभिव्यक्ति अर्थात् वैखरी का द्योतक है। पश्यन्ती और वैखरी में अव्यक्ताव्यक्त भाव ही वैयाकरण भर्तृहरि स्वीकार करते हैं। वे लिखते हैं–'अन्तःकरण तत्त्वस्य वायुराश्रयतां गतः। तद्धर्मेण समाविष्टस्तेजसैव विवर्तते।'[22] 'तेजसैव विवर्तते' शब्द शक्तिवादी

---

19. वही १–३
20. वही १–४
21. वही १–११२
22. वही १–११४

मत के अधिक नज़दीक है न कि अध्यारोप मत के। तेज की सहायता से, अर्थात् शक्ति की क्रिया स्वरूप, बाह्य शब्द की अभिव्यक्ति होती है। यह अभिव्यक्ति किस प्रकार होती है इसे स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि लिखते हैं 'तस्य प्राणे च या शक्तिर्या च बुद्धौ व्यवस्थिता। विवर्तमाना स्थानेषु सेषा भेदं प्रपद्यते।'[23] अर्थात् प्राण और बुद्धि में रहने वाली शब्द की शक्ति (जो उसमें व्यवस्थित रूप से रहती है कण्ठ, तालु आदि स्थानों से विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होकर भेदों का कारण बनती है। 'शक्तिर्या विवर्तमाना स्थानेषु' इस वाक्य में शक्ति का स्थानों में विवर्तित होना बताया गया है। 'विवर्तित होना' विभिन्न रूपों में शक्ति की अभिव्यक्ति का द्योतक है। यदि शब्द ज्ञान है और यही सत् है तो 'यही सब कुछ है' की व्याख्या के लिये आरोप या मिथ्यात्व मानने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान यदि क्रिया भी हो तो क्रिया को आरोप अथवा कल्पित मानने की आवश्यकता ही क्या है? पुनः, 'शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी। येनात्र प्रतिभात्मायं भेदरूपः प्रतीयते"[24] के द्वारा यह स्पष्ट है कि जगत् को उत्पन्न करने वाली शक्ति शब्द है और इसी शब्द-शक्ति से अभिव्यक्त होने वाला प्रतिभा रूपी यह भेद-व्यवहार व्यक्तियों को प्रतीत होने वाला है। शब्द ही समस्त रूपों में व्यक्त हुआ है। शब्द से ही समस्त अर्थों की प्रतिभा होती है। इसीलिए जगत् को 'प्रतिभा' भी कहा गया है। शब्दमय जगत् के सम्बन्ध में भर्तृहरि का यह उद्घोष "शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नाय विदो विदुः। छान्देभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत"[25] अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। शांकर अद्वैतियों ने 'परिणाम' पद की जो व्याख्या की है उसके अनुसार 'उपादानसमसत्ताककार्यापत्तिः परिणामः'—जैसे दूध से दही होना, परिणाम है। इसी तरह 'उपादानविषमसत्ताककार्यापत्तिः विवर्तः' के अनुसार उपादान कारण से विषम सत्ता या कार्य का उत्पन्न होना विवर्त है। 'परिणाम' एवं 'विवर्त' पदों का व्यवहार अथवा इन शब्दों की परिभाषा अन्य दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। उपादान कारण की सत्ता के समान सत्ता का उत्पन्न होना कारण और कार्य दोनों की निरपेक्षता में भी घटित होगा, अतः आत्मघाती सिद्धान्त होगा। यदि दोनों समसत्ताओं को स्वीकार कर भी लें तो द्वैत का प्रसंग उपस्थित होगा, जिसे अद्वैती स्वीकार नहीं कर सकते। उपादान कारण की सत्ता से कार्य की सत्ता को विषम मानने पर सत्कार्यवाद की हानि होगी। अतः उपादान कारण की सत्ता से सम या विषम कार्य की उत्पत्ति उभय पक्ष में दोषग्रसित है। विज्ञानवादियों ने 'परिणाम' का वह अर्थ नहीं लिया है जो अर्थ सांख्य में लिया गया है। वाक्यपदीय में 'परिणाम' एवं 'विवर्त' शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची अर्थ में हुआ है। कार्य जगत् विषम सत्ता नहीं है। 'परिणाम' शब्दों का भर्तृहरि का अर्थ है फलित होना, सृजित होना। शक्तिवादी मत में 'परिणाम' या 'विवर्त' प्रायः शक्ति या तत्त्व की क्रियाशीलता का प्रतिफलन [विमर्श] माना जाता है। भर्तृहरि के अनुसार 'विवर्त' का अर्थ प्रकट होना है। अर्थात् पहले छिपा था, बाद में प्रकट हुआ। पहले की स्थिति 'संवृत्ति' या 'संवरण' कहलाती है और बाद की स्थिति 'विवृति' कहलाती है। इसे भर्तृहरि ने निम्न प्रकार स्पष्ट किया है—मयूर के अण्डे में निहित रस में मयूर के सभी अंग सूक्ष्म या अव्यक्त रूप

23. वही १-११७
24. वही १-११८
25. वही १-१२०

से विद्यमान रहते हैं और बाद में विकास होने पर उसके चक्रक, मुखादि अंग व्यक्त हो जाते हैं। अथवा जैसे मूर्तिकार की बुद्धि में अव्यक्त, अक्रम चित्र स्थित होता है और जब उसे पट पर निर्मित कर देता है तो अवयव स्पष्ट हो जाते हैं [वा. प. ५१–५२]।

सत् की परिभाषा 'त्रिकालाबाधितत्वम्' मानने से जगत्-मिथ्यात्व अनिवार्यत: निगमित नहीं होता है। निरपेक्ष सत् की एक अनिवार्य शर्त है : वह यह कि वह एक हो और वही सब कुछ हो। अध्यारोप एवं अपवाद रीति से सब कुछ को मिथ्या मानकर सत् को पृथक् किया जाता है। भर्तृहरि आगमों के शक्तिवादी या सृजनवादी मत के हिमायती हैं, वे आगमों की तरह जगत् को (अर्थ को) शब्द की शक्ति या ब्रह्म की शक्ति का विमर्श मानते हैं। यह परमार्थत: मिथ्या नहीं है बल्कि ब्रह्म के विमर्श के रूप में सत् है, आभास है और आभास को आभास के रूप में सत् मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। "वाग्रूपता चेन्निष्क्रमेदवबोधस्य शाश्वती। न प्रकाश प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी।।"[26] अर्थात् शब्दरूप चेतना प्रकाश-विमर्श है। वह स्वयंप्रकाश है और अन्य प्रकाश को भी प्रकाशित करने वाली है। यदि चेतना निष्क्रियता को प्राप्त हो जाय तो किसी भी प्रकाश का प्रकाशन नहीं हो सकता है। शब्द-ब्रह्म (चेतना) ज्ञान है और चेतना के शक्तिरूप होने के कारण क्रियारूप भी है। शब्द-ब्रह्म की सर्जनात्मकता उसकी शक्तिरूपता से निगमित होती है न कि अध्यारोप से। ब्रह्मसृजित विश्व जीव के लिये भी उसके कार्यरूप में सत् कार्य है, मिथ्या नहीं है। सत् कार्य सत् कारण की अभिव्यक्ति है। अतः कार्यरूप संसार कारणरूप ब्रह्म के प्रकाश अर्थ में न तो ब्रह्म से पृथक् है न मिथ्या। वह पश्यन्ती का विमर्श है, उसकी अभिव्यक्ति है। भर्तृहरि का मत है कि शब्द-तत्त्व सभी प्राणियों में चेतना है जो अन्त:-बाह्य समस्त व्यवहारों का मूल है। वाणी से ही समस्त सृष्टि उत्पन्न है, अर्थात् वाणि-विषय है। यह बोधक है अत: विषयी [ज्ञाता] है और बोध भी है।[27] यह चेतन तत्त्व ही अनेक रूपों [घटपटादि] में विभक्त है। चेतना को विभक्त मानने की व्याख्या निम्न प्रकार से की जा सकती है :

(1) चेतना अविभक्त है। उस पर नाना भेद आरोपित हैं, जैसे रज्जु में सर्प।

(2) चेतना अविभक्त है और अपनी शक्तिरूपता से वह विभक्त रूपों में अभिव्यक्त होती है जैसे—

कवि की कविता या योगी की योग-सृष्टि। पहला मत अध्यारोपवाद का समर्थन करता है और दूसरा सृजनात्मकतावाद का। दूसरे मत के अनुसार हम कह सकते हैं कि जैसे कवि की कविता उसकी अभिव्यक्ति के रूप में मिथ्या नहीं है बल्कि सत् है वैसे ही जगत् शब्द-ब्रह्म की रचना के रूप में, उसकी अभिव्यक्ति के रूप में मिथ्या नहीं है, सत् है। पूर्णता या समग्रता किसी चीज़ के निषेध पर नहीं बल्कि सबके विधान में निहित होती है और यही भर्तृहरि के चिन्तन का प्रतिपाद्य है।

---

26. वही १–१२४

27. वही १–१२५

कुछ अद्वैतियों की मान्यता है कि कार्य सदैव अपूर्णता का द्योतक होता है। उत्पाद्य, विकार्य, संकार्य, क्रियाफल[28] रूप में व्यवहृत कार्यफल परिवर्तन एवं विकास का सूचक है, अतः अपूर्णता का द्योतक है। पुनः, ब्रह्म क्रियारूप नहीं है। इस सम्बन्ध में भर्तृहरि की तरफ से दो बातें उल्लिखित की जा सकती हैं : पहली यह कि क्रिया को क्रियारूप में सत् मानने पर कोई तार्किक आपत्ति नहीं है। दूसरी यह कि क्रिया सदैव सापेक्षता, सीमितता की द्योतक नहीं है। क्रिया सत् का स्वभाव है, उसके बिना वह सृष्टिकर्त्ता कैसे होगा ? सृष्टि के पीछे उसका कोई प्रयोजन नहीं है। उसकी स्वाभाविकी क्रिया उसकी शक्ति का स्वभाव है न कि सीमितता का द्योतक।[29]

भर्तृहरि मिथ्याकार्यवादी नहीं हैं। यद्यपि भर्तृहरि शंकर से पूर्व के चिन्तक हैं फिर भी विषय को स्पष्ट करने के लिये शांकर मत को पूर्वपक्ष के रूप में यहां प्रस्तुत करना सुविधाजनक होगा।

(1) शंकर का ब्रह्म शुद्ध चैतन्य है किन्तु संवेद्य नहीं है। उसके अनुसार संवेद्य होना भेद का परिचायक है और ब्रह्म सजातीय, स्वगत आदि समस्त भेदों से रहित है। भर्तृहरि पश्यन्ती को संवेद्य रूप [विमर्श रूप] स्वीकार करते हैं। समस्त भेद-रहित स्थिति में भी शब्द-ब्रह्म संवेद्य है और संवेद्यता ही संकल्प आदि के रूप में मध्यमा स्तर पर स्वसंवेद्यता को प्राप्त होती है। संवेद्यरूपता तत्त्व की सृजनात्मकता की द्योतक है। अपने स्वरूप में बिना किसी व्यभिचार के ही शब्दतत्त्व जगत् को अभिव्यक्त करता है। यह संवेद्यता के कारण ही सम्भव हो पाता है। संवेद्यशून्य तत्त्व सृजनशील नहीं माना जा सकता और शब्दतत्त्व का संवेद्य होना उसका स्वभाव है, उस पर आरोपित नहीं है।

[2] भर्तृहरि के अनुसार शब्दतत्त्व सत्-असत् रूपों में ही विवर्तित होता है। अर्थात् सत् और असत् ही ब्रह्म के 'विवर्त' हैं, जबकि शंकर के अनुसार 'विवर्त' न तो सत् है, न सदसत् बल्कि अनिर्वचनीय है। भर्तृहरि कार्य की सत् और असत् कोटियाँ स्वीकार कर यह स्पष्ट करते हैं कि असत् सत् की एक अभिव्यक्ति है और वह भी मिथ्या नहीं है।[30] इस प्रकार वे स्वप्न-पदार्थ, आकाश-पुष्प आदि को भी सत्ता की अभिव्यक्ति का एक रूप स्वीकार करते हैं। स्वप्नादि को भी स्वप्न रूप में असत् न मानकर उसे सत् स्वीकार करने का संकेत देते हैं।[31]

---

28. उत्पाद्य :—जब कोई अविद्यमान वस्तु क्रिया द्वारा उत्पन्न हो, जैसे घट'पट आदि।
विकार्य :—एक वस्तु दूसरे रूप में परिणत हो, जैसे—स्वर्णाभूषण।
संकार्य :—दोष को हटाकर गुण को प्रकट करना, जैसे—दर्पण को साफ करके चमकीला करना।
क्रिया-फल :—जैसे गमन क्रियापूर्वक दूसरे स्थान पर पहुँचना।

29. वाक्यपदीय १–१२०

30. वही १–१३०

31. भर्तृहरि मानते हैं कि ज्ञानी (मुक्त पुरुष) के लिये जगत् का उच्छेद नहीं रहता बल्कि उसे यह ज्ञान रहता है कि समस्त सृष्टि मेरी (चैतन्य तत्व की) ही अभिव्यक्ति है जैसाकि निम्न श्लोक से स्पष्ट होता है : स्वभावज्ञश्च भावानां दृश्यन्ते शब्दशक्तयः। वा० प० १–१४४. काश्मीर शैव दार्शनिक अभिनव गुप्त ने भी यह स्वीकार किया है कि ज्ञानी के विमर्श के रूप में, उसके ऐश्वर्य के रूप में जगत् की सत्ता मुक्तावस्था में भी रहती है। उनकी उक्ति है—

इससे स्पष्ट निगमित होता है कि भर्तृहरि 'विवर्त' शब्द का 'मिथ्या' अर्थ में प्रयोग न कर 'अभिव्यक्ति' अर्थ में प्रयोग करते हैं। यह अभिव्यक्ति ब्रह्म के कार्यरूप में सत् है। यह स्वतंत्र तत्त्व नहीं है और न ही मिथ्या है।

[3] शंकर के अनुसार 'सत्' वह है जिसका तीनों काल में बाध न हो, जिसके स्वरूप का व्यभिचार न हो, एवं 'विवर्त' वह है जिसका बाध हो जाय। प्रश्न उठता है कि क्या भर्तृहरि के विचारानुसार जगत् ज्ञान होने की स्थिति में भी विद्यमान रहता है? यदि जगत् अबाधित रहे तो ज्ञानी के पुनः बंधने की आशंका उत्पन्न होती है। साथ ही, सत्तात्मक रूप से अबाधित जगत् और ब्रह्म का द्वैत भी उपस्थित होता है। इसके उत्तर में भर्तृहरि की तरफ से यह कहा जा सकता है कि बाध और अबाध का प्रत्यय परस्पर सापेक्ष है और काल-शक्ति के अधीन है। समस्त विश्व-प्रक्रिया ही बाध और अबाध है, जिसे ब्रह्म अपनी काल-शक्ति के द्वारा संचालित करता है। जो भविष्य [गर्भ] में छिपी वस्तु है वही वर्तमान में अभ्यनुज्ञा शक्ति द्वारा व्यक्त हो जाती है और पुनः प्रतिबन्धित होने पर भूत हो जाती है। अतः बाधित होने की परिभाषा के आधार पर जगत् को मिथ्या नहीं कहा जा सकता है। पुनः, ज्ञानी के लिये जगत् का बाधित होना आगम-चिंतन में आवश्यक नहीं माना गया है। जगत् को ज्ञानी के विमर्श रूप में, उसकी सर्जनात्मकता के रूप में सत् स्वीकार करने पर भी द्वैत का प्रश्न नहीं उठता है। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं कि ज्ञानी उससे बँधा रहता है। यह तो ब्रह्मरूप ज्ञानी के इच्छा-स्वभाव पर निर्भर है। उसमें शक्ति निहित है, चाहे तो सृजन करे चाहे उसे अवरुद्ध रखे। ब्रह्म-तत्त्व का किसी [सत्-असत्, व्यक्त-अव्यक्त, सृष्टि-लय] से विरोध नहीं है क्योंकि सभी रूपों में उसी की शक्ति कार्य करती है। अतः सृष्टि को शब्द-ब्रह्म के विमर्श रूप में सत् मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

[4] सत्ता-क्रियावाद के अनुसार अपनी शक्ति द्वारा भोक्ता, भोग्य आदि रूप में शब्द-ब्रह्म रूपी संवित् ही सत् है, यहां तक कि अभाव को भर्तृहरि सत्ता-रहित नहीं मानते हैं। अभाव की बौद्धिक सत्ता को वे स्वीकार करते हैं : अभावस्यापि बुद्ध्या कारणं निरूपणात्। शक्ति-परिस्पन्द के द्वारा वही सत्ता क्रमरूपता को प्राप्त कर क्रियारूप में अभिव्यक्त होती है। समस्त क्रिया आदि व्यापारों में समवाय रूप से रहने वाली सत्ता आश्रय-भेद से अनेकानेक रूप में विमर्शित होती है। शक्ति को भर्तृहरि मिथ्या नहीं मानते। कालत्रय की अवधारणा शक्ति की अवधारणा से निष्पादित होती है। अतः शक्ति कालत्रय की पूर्ववर्ती या उससे भी परे है। उसे मिथ्या नहीं कहा जा सकता है क्योंकि ब्रह्म की शक्ति रूप में वह सत् है और सृष्ट्यादि व्यापारों से विमुक्त अव्यक्तावस्था में वह शब्द-ब्रह्म में निहित रहती है।[32]

[5] विवर्तवादी मान्यता के अनुसार ब्रह्म सत् है और तदेतर चिदचित् जगत् मिथ्या है। प्रश्न उठता है कि चिदचित् जगत् की अवधारणा में चित् मिथ्या है अथवा अचित्, अथवा

सर्वो ममाय विभवं इत्येत परिजानतः
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता ॥

—ई. प्र. वि. ४–१–१२

32 वाक्यपदीय १–१३२ एवं १–१४४

दोनों का सम्बन्ध? विवर्तवादी मिथ्या क्रिया द्वारा अचित् को मिथ्या और चित् को सत् स्वीकार करते हैं। इस स्थिति में प्रश्न उठता है कि चित् का अचित् से सम्बन्ध कैसे सम्भव है? क्या यह सम्बन्ध अचित् स्थापित कर लेता है? अचित् जड़ होने के कारण स्वयं सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता और चित् ज्ञान होने के कारण मिथ्या सम्बन्ध स्थापित ही क्यों करेगा?

शब्द-ब्रह्म की शक्ति स्पन्दित होकर चिदचित् रूप में समस्त विश्व को अभिव्यक्त करती है। विषयि—विषय रूप में ब्रह्म ही अभिव्यक्त है,[33] ऐसा मानकर भर्तृहरि शुद्ध अद्वैतवादी अध्यात्मवाद का समर्थन करते हैं जिसके अनुसार ब्रह्म की अभिव्यक्ति के रूप में, उसके स्पन्दन के रूप में, अथवा आभास के रूप में, जगत् सत् है।

[6] अर्थ एवं बोधकता की दृष्टि से भर्तृहरि ने वैखरी शब्द की साधु और असाधु दो ही कोटियाँ स्वीकार की हैं।[34] अनिर्वचनीय कोटि का उल्लेख वाक्यपदीय में स्पष्ट रूप से नहीं मिलता है।

यदि कार्य को मिथ्या माना भी जाय तो क्या भर्तृहरि के कार्य की व्याख्या के साथ इसकी संगतता होगी? वाक्यपदीय के अनुसार कार्य की कुछ आवश्यक शर्तें हैं जिसके आधार पर कार्य का स्वरूप निर्धारित किया जा सकता है:

[1] भविष्य, वर्त्तमान एवं भूत तीनों रूपों में कार्य की व्यक्ताव्यक्त स्थिति होती है। काल-समुद्देश में भर्तृहरि ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि अव्यक्त रूप से भविष्य में स्थित घटना ही वर्तमान में व्यक्त होती है और वही पुनः आवरित होकर भूत हो जाती है।[35] भ्रम कार्य में ऐसा देखने को नहीं मिलता। भ्रम में तो जो घटना भविष्य में स्थित होती है वह वर्तमान में अभिव्यक्त नहीं हो तो उससे विषम घटना दृष्टिगोचर होती है और वहां इस विषम घटना का ही बाध होता है। अर्थात् भ्रम कार्य में जो घटना आदि में होती है वही मध्य और अन्त में नहीं होती। अतः भर्तृहरि की कार्य को व्याख्या के अनुसार जगत् को भ्रमकार्य नहीं स्वीकार किया जा सकता। तीनों कालों से गुज़रता हुआ कार्य व्यक्ताव्यक्त रूपों में अभिव्यक्त होता है। रज्जु-सर्प-दृष्टान्त में रज्जु के स्थान पर सर्प का आभास होता है और सर्पाभास का ही बाध होता है। भर्तृहरि के अनुसार कार्य तीनों कालों में व्यक्ताव्यक्त-भाव में रहता है अतः उनके चिंतन में विवर्त' का अर्थ भ्रम नहीं हो सकता।

(2) क्रम[36]—कार्य (जगत्) प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा की प्रक्रिया है और इस प्रक्रिया में प्रतिबन्धित कार्य अभिव्यक्त होते हैं और व्यक्त अव्यक्त होते हैं। दोनों स्थितियों में व्यक्ताव्यक्त रूप में प्रवाह विद्यमान रहता है जिससे क्रम की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु भ्रम कार्य में व्यक्ताव्यक्त-रूप प्रवाह की व्याख्या नहीं की जा सकती है। जगत् को मिथ्या मानने पर कार्य (जगत्) की क्रम के विचार से भी संगतता नहीं बैठती।

---

33. वही १–४
34. वही १–१–९–१४२
35. वाक्यपदीय कालसमुद्देश ३–४९–५१
36. वही १–११५

प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा क्रम में घटित होते हैं। प्रत्येक कार्य में क्रम होना अनिवार्य है। यही कारण है कि भर्तृहरि ने कार्य को क्रम रूप में परिभाषित किया है।[37] भविष्य, वर्तमान, भूत के क्रम में कार्य होते हैं। कार्य की इस परिभाषा के अनुसार विवर्त को भ्रम नहीं कहा जा सकता है क्योंकि अधिष्ठान के असंवित् रूप होने पर भी भ्रमरूपी कार्य उस पर आरोपित हो सकता है। भर्तृहरि के अनुसार कारण [ब्रह्म] संविद्रूप है और कार्य [जगत्[उसमें अव्यक्त रूप में स्थित रहता है जैसे बढ़ई की बुद्धि में अनेकों मेज़ के विचार अव्यक्त रूप में विद्यमान रहते हैं और उनमें से किसी एक मेज़ के विचार के अनुरूप वह मेज़ का निर्माण कर देता है। पुनः, भ्रमकार्य से क्रम की निमित्तता नहीं है। अगर भ्रम में क्रम [प्रतिबन्ध-अभ्यनुज्ञारूपी क्रम] स्वीकार कर लिया जाय तो कार्य मिथ्या [भ्रम] रूप न होकर सत् रूप हो जायेगा और यदि कार्य में क्रम न माना जाय तो सत्कार्यवाद ही खंडित हो जायेगा। इस प्रकार यह मत भर्तृहरि की मान्यताओं के विपरीत होगा।

उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्षित किया जा सकता है कि भर्तृहरि के 'विवर्त' शब्द का प्रयोग 'मिथ्या' अर्थ में नहीं है। शब्दतत्त्व से जगत् की उत्पत्ति के लिये 'विवर्त' शब्द का क्रियावाचक प्रयोग शब्दतत्त्व के नाना रूपों में अभिव्यक्ति के अर्थ में हुआ है। यह अभिव्यक्ति परिणामात्मक नहीं है, सृजनात्मक है। शब्दतत्त्व तेज रूप है, ज्ञान रूप है। यह अपने स्वरूप का भी प्रकाशन करता है और अर्थ [जगत्] को भी विमर्शित करता है।[38] यह विमर्श संसारी के लिए तो सत् है ही, मुक्तावस्था में मुक्तात्मा के ऐश्वर्य के रूप में, उसके विमर्श के रूप में, या ब्रह्म के आभास के रूप में भी सत् है। यह प्रलयावस्था में ब्रह्म में ही लीन हो जाता है। शब्दब्रह्म चैतन्य-तत्त्व है अतः सृष्टि और लय, अनभिव्यक्ति और अभिव्यक्ति दोनों उसकी सर्जना-शक्ति के द्वारा ही संचालित होते हैं।

इस प्रकार भर्तृहरि ने सृजनात्मक एवं समस्त सृजन से प्रतिबन्धित शब्द तत्त्व के दोनों रूपों को तत्त्व की पूर्णता की व्याख्या के लिए आवश्यक माना है। उन्होंने सूक्ष्म शब्द-तत्त्व से स्थूल पदार्थों की उत्पत्ति एवं स्थूल कार्य से सूक्ष्म कारण के व्यक्ताव्यक्त सम्बन्ध की त्मक व्याख्या द्वारा जगत् को कार्य के रूप में सत् मानकर अद्वैत का प्रतिपादन किया है।

———

दर्शन विभाग, मिथिला विश्व-विद्यालय
दरभंगा (बिहार)

37. वही
38. वही

2

ज्ञान की विधाएं

नारायण शास्त्री द्राविड़

भारतीय दर्शनों में ज्ञान का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। एक वर्गीकरण जो सर्वसम्मत है, वह सविकल्पक तथा निर्विकल्पक इन दो विधाओं में है। किन्तु प्रमाणों की विभिन्न संख्याओं को विभिन्न दर्शनों ने पुरस्कृत किया होने के कारण ये दर्शन प्रमाण-जन्य ज्ञानों की भी उतनी ही विधायें मानते हैं जितनी प्रमाणों की। जैसे प्रत्यक्षजन्य, अनुमितिजन्य, उपमितिजन्य, शब्दजन्य, अर्थापत्तिजन्य तथा अनुपलब्धिजन्य-ज्ञान। इस प्रकार ऐसे कम से कम छः प्रकार के ज्ञान माने जा सकते हैं। किन्तु यह कोई बात नहीं है कि एक प्रमाण से जिस विषय का ग्रहण हो उस विषय का अन्य प्रमाण से ग्रहण नहीं हो सकता। केवल बौद्ध दार्शनिक ही ऐसे पुरस्कारक हैं। इसी कारण वे विप्लववादी कहे जाते हैं। उनका मत है कि प्रत्यक्ष - प्रमाण से स्वलक्षण रूप जिस विषय का ग्रहण होता है उस प्रमाण से सामान्य लक्षण विषय-ज्ञान नहीं हो सकता है। इस अन्य (स्वरूप लक्षण से अन्य=सामान्य लक्षण) प्रकार के विषय का आकलन मात्र अनुमान प्रमाण से ही होता है। दो और केवल दो ही प्रमाण मानने का कारण यह है कि दो ही प्रकार के ज्ञेय विषय होते हैं, जिनकी आत्यन्तिक भिन्नता के कारण ही उनके ग्रहणार्थ दो प्रमाण स्वीकार करने पड़ते हैं। नैयायिकों का मंतव्य ठीक इसके विपरीत है। उनके मतानुसार एक विषय का ज्ञान एक से अधिक प्रमाणों से संभव है। जैसे आँख से देखे बिना अग्नि का धूम देखकर अनुमान संभव है। इसी प्रकार 'यहां अग्नि है' किसी व्यक्ति के द्वारा उच्चारण किये जाने पर निर्दिष्ट स्थान पर अग्नि की उपस्थिति का ज्ञान शब्दों से भी संभव है। इस विचार को "प्रमाण सम्प्लववाद" नाम से पहचाना जाता है। इस संबंध में यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि जिस रूप से प्रत्यक्ष द्वारा उसके विषय का ग्रहण होता है उसी रूप से अनुमिति, उपमिति आदि उसका ग्रहण नहीं करते हैं। उदाहरणार्थ अग्नि के प्रत्यक्ष को ही लें। आँखों से अग्नि विशेष का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, किन्तु धूम को देखकर व धूम तथा अग्नि की व्याप्ति के स्मरण से जो अग्नि का अनुमान रूप ज्ञान होता है वह अग्नि का सामान्य रूप से ज्ञान है। अग्नि विशेष इस ज्ञान

का (अनुमान का) विषय नहीं हो सकती है। इसी प्रकार 'अग्नि' शब्द के उच्चारण से जो अग्नि का ज्ञान होता है वह भी अग्नि पद बोध्य इस सामान्य रूप को धारण करने वाली वस्तु के रूप में ही होता है। वैसे तो अग्नि प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द इन प्रमाणों का विषय है तथापि अग्नि के व्यक्ति विशेष के रूप में, धूम-सम्बद्ध व्यक्ति के रूप में, अग्नि पद बोध्य के रूप में जो भिन्न-भिन्न ज्ञान होते हैं वे एक-दूसरे से नितान्त भिन्न ही मानने पड़ेंगे। फिर भी इन विभिन्न ज्ञानों में कतिपय सामान्य धर्मों का विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्यक्ष जन्य ज्ञान के अतिरिक्त सभी ज्ञानों को एक ही वर्णनात्मक विभाग में डाला जा सकता है। कारण यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान ही विषय-साम्मुख्य के कारण विषय के अपने वैयक्तिक रूप को ग्रहण करने में समर्थ प्रतीत होता है। अन्य पाँचों ज्ञान-विधाओं में विषय-साम्मुख्य न होने से (या वह होकर भी उन ज्ञान-विधाओं के लिए निरुपयोगी होने से) विषय-भूत वस्तु का ज्ञान उसके किसी न किसी सामान्य धर्म के द्वारा ही हुआ करता है। जैसे अनुमिति में हेतु-व्यापक रूप से, उपमिति में अन्य वस्तु-सादृश्य रूप से, शब्द में पदशक्यार्थ रूप से, अर्थापत्ति में आपाततः परस्पर विरुद्धार्थों के आपाद्य के रूप से एवं अनुपलब्धि में वस्तु-सत्ता प्रसंजित उपलब्धि-प्रतियोगिक स्वरूप से इन विभिन्न प्रमाणों के विषय का आकलन हुआ करता है। विषय एक ही होते हुए भी वह उक्त जिन रूपों से युक्त होकर ज्ञानों का विषय होता है वे रूप एक दूसरे से भिन्न तथा सामान्यात्मक होते हैं। ये सामान्य एक-दूसरे से भिन्न प्रकार के हैं तथा इनका भी उक्त ज्ञानों में विषय-निर्धारक धर्म के रूप में अनुप्रवेश होता है, ऐसा कह सकते हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए यदि यह कहा जाय कि ज्ञान की दो ही विधाएं—सामान्य धर्म-युक्त वस्तु तथा प्रातिस्विक धर्म-युक्त वस्तु—हैं तो किसी भी दर्शन को विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिए। बौद्धों की सुविधा के लिए इस कथन में थोड़ा सुधार यह करना होगा कि दो प्रकार के ज्ञानों में से एक का विषय केवल सामान्य—सामान्य धर्मयुक्त वस्तु नहीं—होता है तो दूसरे प्रकार के ज्ञान का विषय केवल शुद्ध विशेष या व्यक्ति होता है। न्याय मत के समावेशन के लिए उक्त कथन में यह जोड़ना होगा कि प्रत्यक्ष ज्ञान में व्यक्ति विशेष का आकलन अवश्य होता है किन्तु व्यक्ति–विशेष के साथ उसके सामान्य धर्म का भी आकलन होता है। अन्य ज्ञानों में व्यक्ति द्रष्टा के सम्मुख न होने के कारण उसका जो इन ज्ञानों के द्वारा ग्रहण होता है वह केवल सामान्य से अवगुंठित अवश्य होता है किन्तु सामान्य के साथ वह अपने प्रातिस्विक रूप से भी अवगुंठित हो द्रष्टा के लिए इन्द्रिय-गोचर होता है। इसी कारण प्रत्यक्ष वस्तु का 'यह', 'वह' जैसे व्यक्तिवाचक सर्वनामों से उल्लेख संभव होता है। किन्तु व्यक्ति का वैयक्तिक रूप या धर्म प्रत्यक्ष में भी व्यक्ति के विधेय के रूप में (न्यायमतानुसार) ज्ञान नहीं होता है यह समझना आवश्यक है। व्यक्ति की उद्देश्यता के निर्धारण के तौर पर ही उस का वैयक्तिक धर्म प्रत्यक्ष विषय हुआ करता है। जैसे 'यह (सम्मुख विद्यमान) घट है' इस आकार के प्रत्यक्ष ज्ञान में 'यह' शब्द का अर्थ 'इदन्ता' (या व्यक्तिसाम्मुख्य रूप वस्तु की विशेषता का निर्धारक रूप) है, उससे युक्त वस्तु ही घटत्वरूप सामान्यधर्म विशिष्ट होकर उक्त प्रत्यक्ष का विषय बनती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष में सामान्य तथा विशेष धर्म इन दोनों का सन्निवेश हुआ रहता है, जबकि अनुमानादि में विशेष धर्म का सन्निवेश वस्तु-निर्धारक के रूप मे बिल्कुल नहीं होता है।

किन्तु इस सविकल्पक प्रत्यक्ष के समक्ष निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को भी नैयायिकों को स्वीकार करना पड़ता है । निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में व्यक्ति एवं तद्गत धर्म अलग-अलग ही (विशेष्य विशेषण भावापन्न होकर) बुद्धिगोचर होते हैं । ऐसा मानने की आवश्यकता इस कारण होती है कि सविकल्पक प्रत्यक्ष विशिष्ट बुद्धि-रूप होने से इस विशिष्ट बुद्धि के घटक विशेषण, विशेष्य तथा इनका सम्बन्ध इन विषयों का व्यक्तिश: ज्ञान विशिष्ट के ज्ञाता को हुआ होना आवश्यक है । उदाहरणार्थ 'लक्ष्मण राम का भाई है' यह ज्ञान उसी व्यक्ति को हो सकता है जिसे 'लक्ष्मण', 'राम' तथा 'भाईपन का सम्बन्ध' इन बातों का ज्ञान हो । इस कारण विशिष्ट बुद्धि-रूप प्रत्यक्ष घटित होने के लिए शुद्ध निर्विशेष व्यक्ति, उसका शुद्ध सामान्य धर्म तथा इन दोनों को जोड़ने वाला शुद्ध सम्बन्ध इनका परस्पर निरपेक्षतया पहले होना आवश्यक है । बौद्ध ऐसे ही ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं । उसके विचार में सविकल्पक ज्ञान प्रत्यक्ष से नितान्त भिन्न होगा । इसलिए सविकल्पक, या बौद्धों के शब्दों में सामान्य लक्षण ज्ञान में व्यक्ति गृहीत होता ही नहीं, केवल सामान्य-लक्षण गृहीत होता है जबकि प्रत्यक्ष में शुद्ध व्यक्ति या स्वलक्षण मात्र गृहीत होता है ।

अर्वाचीन पश्चिम दार्शनिक बर्ट्रंड रसेल का ज्ञान सम्बन्धी वर्गीकरण तथा उसका स्पष्टीकरण लगभग बौद्धों जैसा ही है । 'वर्णनात्मक' तथा 'परिचयात्मक' ऐसी ज्ञान की दो विधाएं रसेल ने बतायी हैं । वर्णनात्मक ज्ञान में वस्तु सम्मुख उपस्थित नहीं होने पर उसके वर्णन का, जो कि वस्तु के सामान्य गुण-धर्मों का उपयोग करता है, प्रयोग किया जाता है । इस ज्ञान का विषय वस्तु नहीं होकर उसके गुण-धर्म हुआ करते हैं । परिचयात्मक ज्ञान का विषय स्वयं वस्तु ही होती है । उसके गुण-धर्मों की इस ज्ञान में कोई उपयोगिता नहीं होती है । इन शब्दों में ज्ञान की दो विधाओं का प्रतिपादन स्थूल रूप से ठीक है । किन्तु सूक्ष्मता से देखने पर यह वर्गीकरण गलत प्रतीत होता है । एक तो यह कहना ठीक नहीं है कि व्यक्ति वर्णनात्मक ज्ञान का विषय नहीं होता है । यदि व्यक्ति के वर्णन का वर्ण्य के रूप में समावेश न हो तो वर्णन व्यक्ति का कैसे हो पायेगा ? यदि व्यक्ति अपने वर्णन में समाविष्ट नहीं हो तो वह कैसे या किस रूप में समाविष्ट होगा यह बताना होगा । दूसरे, परिचयात्मक ज्ञान का विषय व्यक्ति हो तो वह किस रूप में परिचय का विषय होता है यह स्पष्ट करना होगा । बिना किसी धर्म (सम्बन्ध या गुण) के व्यक्ति का परिचय करना-कराना बिल्कुल असम्भव है । कम से कम व्यक्ति के नाम का तो ज्ञान (व्यक्ति से सम्बन्धित और किसी बात का ज्ञान न हो तो) आवश्यक होगा ही । व्यक्तिगत किसी धर्म आदि का ज्ञान न हो तो उसका आकार तो कदापि अज्ञात नहीं रह सकता । इसलिए रसेल के अर्थ में शुद्ध परिचयात्मक ज्ञान या तो असंभव है या बौद्ध सम्मत स्वलक्षण ही इस ज्ञान का विषय हो सकेगा । किन्तु रसेल ने परिचयात्मक ज्ञान के उदाहरण के रूप में संवेदों का भी उल्लेख किया है । संवेद निधर्मक संवेदन मात्र से वेद्य तथा संवेदन के साथ बदलने वाले पदार्थ के रूप में स्वीकार किये गये होने से उन्हें बहुत कुछ स्वलक्षण के जैसा माना जा सकता है ।

यद्यपि रसेल या बौद्धों ने ज्ञान की उक्त दो मूलभूत विधाओं को प्रस्तुत किया है तो भी इन दो विधाओं की उपविधाओं का तथा इन दो विधाओं से नितान्त भिन्न एक आत्म-

ज्ञान रूप विधा का इन दोनों ने स्पष्टीकरण नहीं किया है। यहां हम स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न करेंगे। प्रथम वर्णनात्मक ज्ञान को लें। वर्णन कई प्रकार के होते हैं। इन्हें सामान्यतया तीन वर्गों में बांटा जा सकता है। एक वर्ग उन सब वर्णनों का है जिनमें वर्ण्य के उन गुण-धर्मों का उपयोग किया जाता है जो वर्ण्य की परिभाषा या लक्षण के घटक न हों। ऐसे वर्णन शुद्ध वर्णन कहे जा सकते हैं। इन वर्णनों से नितान्त भिन्न प्रकार का वह वर्णन होता है जिसे लक्षण कहा जाता है। जब कि शुद्ध वर्णन में वर्ण्यगत (या कल्पित भी) किसी गुण-धर्म का उपयोग किया जाता है लक्षण में वर्ण्य के साथ अन्यूनानतिरिक्त रूप से संबद्ध गुण या धर्म विशेष का ही उपयोग सही माना जाता है। वर्ण्य में कई गुण या धर्म आवश्यक रूप से अवस्थित होने पर भी इन में से किसी गुण या धर्म विशेष को ही वर्ण्य के लक्षणों के निर्माण के लिए चुना जाता है। उदाहरणार्थ मनुष्य के रूढ़ लक्षण "विचारक्षम प्राणी" को लें। इसमें विचारक्षम प्राणित्वरूप धर्म विशेष का ही ग्रहण किया गया है जबकि 'हँसने की क्षमता' जैसे अन्य गुण-धर्म भी मनुष्य में हैं जिनका इस लक्षण में अन्तर्भाव नहीं है या इन धर्मों के आधार पर मनुष्य का अन्य लक्षण नहीं बनाया जा सकता है। ऐसा क्यों? इसका एक कारण यह हो सकता है कि 'हँसने की क्षमता' मनुष्य का मौलिक धर्म नहीं है जिस पर अन्य धर्म आधारित हों या जिससे वे निष्कृष्य हों। विचार-क्षमता ऐसा धर्म हो सकता है, क्योंकि विचारक्षम होने के कारण ही मनुष्य में हँसने की योग्यता होती है। इसका दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि हँसने की क्षमता विचारक्षमता का ही एक रूप, अङ्ग या अभिव्यक्ति हो जिससे उसे एक भिन्न धर्म मानना आवश्यक न हो।

लक्षण के दो उपभेद होते हैं जिन्हें भारतीय दर्शनों में 'स्वरूप लक्षण' तथा 'तटस्थ लक्षण' के नामों से अभिहित किया जाता है। पश्चिमी दार्शनिकों ने प्रायः एक ही प्रकार का लक्षण स्वीकार किया है जबकि भारतीय दर्शनों में लक्षण की इन दो विधाओं को अलग किया गया है। जैसे उपनिषदों में ब्रह्म का 'सच्चिदानन्द' शब्द से जो निर्देश किया है वह ब्रह्म के स्वरूप-लक्षण का उदाहरण है। ब्रह्म के जैसा अन्य कोई पदार्थ नहीं है। वह एक अद्वितीय तत्त्व है और वह सच्चिदानन्द-रूप है। सच्चिदानन्द-रूपत्व कोई धर्म या गुण नहीं है। ऐसा वह होता तो अन्य तत्त्वों या पदार्थों में भी पाया जाता। अतः ऐसे लक्ष्य जो अन्य किसी पदार्थ से साम्य नहीं रखते उनका लक्षण यदि कोई हो तो वह स्वरूप-लक्षण ही होगा। यदि लक्षण-घटक गुणों या धर्मों को एक-दूसरे से अलगाना संभव न हो तो इन गुणों या धर्मों से निर्मित लक्षण स्वरूप-लक्षण ही होगा। जैसे ब्रह्म के उपर्युक्त लक्षण के घटक सत्, चित् तथा आनन्द को एक-दूसरे से न अलग किया जा सकता है न अलग-अलग समझा जा सकता है। जो परम सत् है वही परमचित् है और वही परम आनन्द भी है। इनमें से किसी एक गुण को अन्य दो गुणों से पृथक् जाना ही नहीं जा सकता है।

तटस्थ लक्षण लक्ष्यगत गुण-धर्मों का उपयोग करता है। ये गुण-धर्म सामान्य रूप से होने के कारण अनेक सजातीय पदार्थों में पाये जाते या जा सकते हैं। इन सभी पदार्थों के वर्ग को अन्य विषमजातीय पदार्थों के वर्गों से अलगाना तटस्थ लक्षण का कार्य है। वस्तुगत धर्म

वस्तु से भिन्न अवश्य होते हैं और कभी-कभी तो वे नितान्त भिन्न भी होते हैं, तथापि लक्ष्य वस्तुओं में सदैव अवस्थित होने से उनका लक्षण के निर्माणार्थ उपयोग किया जाता है। जो लक्ष्य से भिन्न है वह लक्षण (या लक्षण-घटक) कैसे हो सकता है? यह प्रश्न यहाँ संभव है, किन्तु इसकी चर्चा प्रस्तुत विचार के सन्दर्भ में अप्रासंगिक है। अतः अब हम तीसरे प्रकार के वर्णन का विचार करेंगे जिसका निर्देश ऊपर 'उपलक्षण' शब्दों से किया गया है। उपलक्षण प्रसंग-विशेष में लक्षण का कार्य, लक्ष्य का लक्ष्येतर परिच्छेद करते हुए भी, लक्ष्यगत किसी आवश्यक गुण-धर्म पर आधारित नहीं होता है। किसी अनावश्यक या आकस्मिक गुण-धर्म का ही उपयोग कर उपलक्षण लक्ष्य की पहचान में सहायक होता है। वेदान्त में यह 'शाखा-अरून्धती-न्याय' उपलक्ष्य के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। यह न्याय ज्ञान की क्रमिकता के उदाहरण के रूप में भी प्रस्तुत किया जाता है। अद्वैत वेदान्त में निर्गुण ब्रह्म के जगदुत्पत्ति-स्थिति-संहार-कारित्वादि धर्म ब्रह्म के लक्षण के रूप में बतलाये गये हैं। 'ब्रह्मसूत्र' के द्वितीय सूत्र में ब्रह्म का यही लक्षण बताया गया है। वास्तव में ये धर्म ब्रह्म के लक्षण नहीं हो सकते हैं। इन्हें उपलक्षण (उक्त अर्थ में) कहना ही उचित होगा।

वर्णन की प्रथम विधा, जिसे ऊपर 'शुद्ध-वर्णन' कहा गया है, तीन उपविधाओं में विभाजन योग्य है। ये उपविधाएं क्रमशः काल्पनिक वर्णन, आनुभविक वर्णन तथा यथार्थ वर्णन हैं। काल्पनिक वर्णन केवल कल्पना पर आधारित होता है। "मुख चन्द्रमा के समान है," "पैर कमल के जैसे हैं," "समुद्र पृथ्वी का आँचल है" जैसे वर्णन किसी वस्तुस्थिति का या वर्ण्यगत धर्म का निर्देश नहीं करते। मुख में चन्द्रमा का सादृश्य है भी और नहीं भी। किन्तु समुद्र को किसी भी अर्थ में पृथ्वी का आँचल नहीं माना जा सकता है। न पृथ्वी कोई महिला है जिसे आँचल की अपेक्षा हो, न समुद्र ही आँचल के समान परिधान करने योग्य कोई वस्तु है। केवल कवि-कल्पना ही ऐसे वर्णनों का आधार होती है। तब ऐसे वर्णन क्यों किये जाते हैं? यथार्थ वस्तु की पहचान या प्राप्ति तो इन वर्णनों का लक्ष्य नहीं हो सकता। साहित्यकारों का कहना है कि काव्यात्मक वर्णन वर्ण्यगत सौन्दर्य को उद्घाटित करता है। यह कथन सही हो तो सामान्य वस्तुओं तथा उनके सामान्यानुभवगोचर स्वरूप को या तो असत् मानना होगा या उन्हें सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के एक माध्यम के रूप में गौण रूप से सत् मानना होगा। ऐसा मानने पर ज्ञान की परिचित अवधारणा को ही बदलना होगा। जिन ज्ञान-विधाओं की हम चर्चा कर रहे हैं वे हमारे सामान्यानुभव से संबद्ध हैं। अतः काल्पनिक वर्णन का सामान्यानुभव-गोचर वस्तु के ग्रहण या प्राप्ति के लिए विशेष उपयोग नहीं, यह बात जान लेना जरूरी है।

शुद्ध वर्णन की दूसरी उपविधा आनुभविक वर्णन है जिसका व्यावहारिक उपयोग अत्यधिक है। किसी मनुष्य के स्वभाव की आकृति, बोलने-चलने का ढंग, बर्ताव आदि देखकर उसकी पहचान अनायास कर ली जाती है। ये विशेषताएँ परस्पर जुड़ी ही रहती हैं, ऐसी बात नहीं है। उनमें जो सम्बन्ध होता या प्रतीत होता है उसका यथावत् वर्णन विट्गेन्स्टाइन द्वारा प्रयुक्त 'पारिवारिक साम्य' इस शब्द से ही किया जा सकता है। किसी प्रसंग में कुछ और किसी अन्य प्रसंग में कुछ अन्य विशेषताएँ जुड़कर वर्ण्य व्यक्ति में प्रकट होती हैं तथा उसकी पहचान में सहायक होती हैं। संभव है कि ये सारी विशेषताएँ किसी मूलभूत विशेषता की सूचक हों, निज के अस्पष्ट (या स्पष्ट भी) आकलन के द्वारा वर्ण्य वस्तु की पहचान हो पाती हो। परिवार के घटक लड़के-लड़कियों में अलग-अलग जो समानताएं दृष्टिगोचर होती हैं उन सभी

को एक सूत्र में ग्रथित करने वाली एक सामान्य समानता होती है और वही उन सबकी एक पारिवारिकता की पहचान में मदद देती है, ऐसा समझना ग़लत नहीं होना चाहिए।

शुद्ध वर्णन की तीसरी उपविधा वह वर्णन है जो वर्ण्य के उन गुण-धर्मों का उपयोग करता है जो वर्ण्य में सदैव पाये जाते हैं किन्तु उसके लक्षण के रूप में स्वीकार नहीं किये जाते हैं। मनुष्य की हास्यक्षमता, दयालुता आदि गुण ऐसे हैं जो केवल मनुष्य में पाये जाते हैं किन्तु मनुष्य के लक्षण के रूप में वे स्वीकार नहीं किये जाते हैं। ऐसा फ़र्क वस्तु के गुण-धर्मों के बीच क्यों किया जाता है इस बात की चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

अब परिचयात्मक ज्ञान की उपविधाओं का विचार किया जाता है: परिचयात्मक ज्ञान की भी तीन उपविधाएँ होती हैं। ये क्रमशः [1] सामान्य परिचयात्मक ज्ञान, [2] शुद्ध वस्तु-परिचयात्मक ज्ञान तथा [3] प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान हैं। सभी परिचयात्मक ज्ञानों में ज्ञान-विषय वस्तु का साम्मुख्य अनिवार्यतया अपेक्षित है। उसके न होने पर यह ज्ञान वर्णनात्मक हो जाता है। वस्तु-सम्मुख होने पर ही उसके निर्देश के लिए 'यह', 'वह' जैसे सर्वनामों का प्रयोग या केवल संकेत इत्यादि किये जाते हैं। सामान्य परिचय में परिचय-विषयभूत वस्तु अपने किसी गुण या धर्म के साथ द्रष्टा के लिए प्रस्तुत होती है। वस्तु और उसके गुण-धर्म विशेष्य-विशेषण भावापन्न होकर परिचय-विषय होते हैं। वर्णन में वर्ण्य के गुण-धर्म ही परिचित होते हैं, वर्ण्य स्वयं अपरिचित ही रहता है। इसी कारण इस प्रकार के ज्ञान को सविकल्पक ज्ञान कहा गया है।

शुद्ध वस्तु-परिचयात्मक ज्ञान संवेदवादियों के अनुसार संवेदों का, बौद्धों के अनुसार स्वलक्षणों का और नैयायिकों के अनुसार निर्विकल्पक शुद्ध वस्तु का हुआ करता है। ऐसा शुद्ध निर्विकल्पक वस्तु-विषयक ज्ञान होता है यह बात अनुव्यवसायगम्य न होकर उसकी सत्यता तर्कतः स्वीकार करनी पड़ती है। शुद्ध वस्तु-विषयक ज्ञान के बिना विशिष्ट-विषयक ज्ञान की उत्पत्ति असंभव होने के कारण ही संवेद, स्वलक्षण या निर्विकल्पक ज्ञान को ज्ञान स्वीकार किया गया है।

प्रत्यभिज्ञा परिचयात्मक ज्ञान की तीसरी उपविधा है। इसे वेदान्तियों ने वस्तु-तादात्म्य अथवा वस्तु-स्वरूप ज्ञान ग्राहक के रूप में पुरस्कृत किया है। "यह वही देवदत्त है" इस पूर्वदृष्ट देवदत्त के प्रत्यक्ष का वास्तविक विषय न पूर्वदृष्ट देवदत्त है न सद्यः दृग्गोचर होने वाला देवदत्त। पूर्वदृष्ट देवदत्त (अपने स्मृत गुणधर्मों के साथ) इसलिए उक्त ज्ञान का विषय नहीं है क्योंकि इस ज्ञान का विषय प्रस्तुत या सम्मुख उपस्थित प्रतीत होता है। यह विषय दृग्गोचर देवदत्त भी नहीं क्योंकि वर्तमान देवदत्त का स्मृत देवदत्त के साथ अभेदाभेद नहीं हो सकता है। ऐसी अवस्था में स्मृत या प्रत्यक्ष गुणधर्मों का अपवारण होकर शेष रहने वाले शुद्ध देवदत्त का ही ज्ञान उक्त प्रत्यभिज्ञा में घटित होता है, ऐसा अनिवार्यतः मानना पड़ता है।

आधुनिक पश्चिमी दर्शनों में प्रत्यभिज्ञा का ही विचार "भोर का तारा ही संध्या का तारा है" जैसी तादात्म्य-विषयक प्रतिज्ञप्तियों द्वारा किया गया है। जो समस्या दार्शनिकों ने इस सम्बन्ध में उठायी है वह वस्तु-तादात्म्य सम्बन्धी समस्या ही है जिसका रूप यह है कि

एक ही वस्तु कैसे द्विधा उपवर्णित हो सकेगी ? जो प्रभातकालीन है वह संध्याकालीन नहीं हो सकता और जो सन्ध्याकालीन है वह प्रभातकालीन नहीं हो सकता। वैसे यह समस्या प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति के सम्बन्ध में उपस्थित की जा सकती है। जैसे "घट नील है" इस सामान्य प्रतिज्ञप्ति में भी घटत्व-युक्त घट का नील रूप युक्त वस्तु के साथ अभेद प्रतिपादित है जो तर्कतः वैसे ही असंगत है जैसे प्रभातकालीन तारे का सन्ध्याकालीन तारे के साथ अभेद। नैयायिक इस अभेद-बोध का उपपादन उद्देश्यतावच्छेदक तथा विधेय के भेद के आधार पर करते हैं। उनके अनुसार यद्यपि घटत्व-विशिष्ट घट का ही नीलरूपविशिष्ट वस्तु के साथ अभेद उपर्युक्त वाक्य में प्रतीत होता है तथापि घटत्व रूप उद्देश्यतावच्छेदक तथा नील रूप विधेय एक-दूसरे से भिन्न होने के कारण उक्त वाक्य के द्वारा अभेद-बोध होने में कोई कठिनाई नहीं होती। वेदान्ती ऐसा नहीं मानते। उनके मतानुसार घटत्व घट से भिन्न कोई धर्म नहीं और नील रूप भी नील घट से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। अतः घट और नील के अभेद का उपपादन अन्य प्रकार से ही करना होगा। यदि कहें कि केवल महावाक्यों में ही नहीं सभी वाक्यों में उद्देश्यभूत वस्तु का शुद्ध रूप ही बोधित होता है तो वेदान्त-मत का विपर्यास नहीं हो सकेगा। वेदान्त-सम्मत आत्मज्ञान या तो परिचयात्मक ज्ञान की एक विशेष प्रकार की उपविधा के रूप में या एक तीसरे ही प्रकार के ज्ञान के रूप में स्वीकारार्ह है। आत्मज्ञान आत्माविषयक न होते हुए भी आत्मज्ञान हुआ करता है। यह आत्मा स्वाभिव्यक्त या स्वयं-प्रकाश है जिसमें विषय-विषयिभाव के लिए गुंजाइश नहीं होगी। सांसारिक अवस्था में जो आत्मानुभूति या आत्म-भावना होती है वह शुद्ध आत्मज्ञान न होते हुए भी अन्य प्रकार के ज्ञानों से भिन्न प्रकार का एक ज्ञान है, क्योंकि इसमें आत्मा ज्ञेय के रूप में कभी समाविष्ट नहीं होता। शुद्ध आत्मज्ञान आत्म-संबद्ध विविध पूर्वाग्रहों के निरास के अनन्तर ही संभव है। लेकिन इन पूर्वाग्रहों का निरास आत्मा के लिए अपनी अज्ञानतः पुरस्कृत असल स्थितियों से मुक्ति ही है क्योंकि प्रत्येक पूर्वाग्रह के साथ आत्मा एक असत् सत्ता से अभिभूत हो जाता है। अतः पूर्वाग्रहों के निरास के साथ-साथ इन असत् तथा अज्ञानतः आरोपित सत्ताओं का निरास भी होता जाता है जिससे अन्ततोगत्वा आत्मा अपने शुद्ध चैतन्यमय रूप में प्रतिष्ठित हो पाता है।

वेदान्त के विचार में आत्मज्ञान या आत्माभिव्यक्ति अथवा आत्मरूपाभिव्यक्ति ज्ञान का आदर्श रूप है। विषय-विषयि-भाव-युक्त ज्ञान व्यावहारिक क्षेत्र में भले ही ज्ञान के रूप में स्वीकार्य हो वह वास्तविक या आदर्श ज्ञान के रूप में स्वीकार्य नहीं हो सकता। ज्ञान और ज्ञेय एक-दूसरे से अलग नहीं हैं, तथाकथित ज्ञेय की स्वाभिव्यक्ति ही उसका ज्ञान है। इस कारण वर्णनात्मक ज्ञान, जिसमें लक्षणात्मक तथा उपलक्षणात्मक ज्ञान का भी समावेश है, वास्तविक ज्ञान नहीं माना जा सकता। यही नहीं, वर्णनों के अपवारण से ही वर्ण्य का यथार्थ ज्ञान संभव है ऐसा भी उक्त ज्ञान-संबंधी सम्प्रत्यय से निष्कर्ष निकलता है।

वेदान्त की तत्त्वमीमांसाधिष्ठित दार्शनिक भूमिका से भी उक्त निष्कर्ष निकलता है। गुण-धर्म यदि गुण-धर्ममात्र हैं तो वे स्वाधिष्ठानभूत वस्तु से भिन्न ही होंगे, भले ही वे उसके साथ किसी सबन्ध से सम्बद्ध हों। ऐसी अवस्था में गुण-धर्मों का ज्ञान तदधिष्ठानभूत वस्तु के ज्ञान के लिए अपेक्षणीय न होकर उसमें बाधक ही होगा। वर्णन या लक्षण के द्वारा वर्ण्य या लक्ष्य वस्तु के तत्त्व की प्राप्ति तथा अधिगति कदापि नहीं हो सकती। वस्तु-तत्त्व का अधिगम

उसका स्वप्रकाशन ही है, अर्थात् ज्ञान जब तक वस्तु से भिन्न तथा उसका ज्ञापक समझा जाता है तब तक वह उसके तत्त्व का यथावत् आकलन कर ही नहीं सकता। ज्ञान वस्तु-स्वरूप होकर ही उसका प्रकाशक या ज्ञापक हो सकता है।

वर्णन, लक्षण आदि वर्ण्य या लक्ष्य को ग्रहण करने में समर्थ नहीं इस तथ्य को प्रस्थापित करने के लिए वेदान्त की ओर से कुछ विध्यात्मक प्रमाण भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं। किन्तु इन प्रमाणों की चर्चा यहाँ अप्रासंगिक है।

प्रोफेसर्ज़ कोलोनी, हनुमान नगर,
नागपुर

3

नव्यन्याय में पक्षता

अरविन्दकुमार राय

व्याप्ति और पक्षधर्मता अनुमान-प्रमाण के दो प्रमुख स्तम्भ हैं। प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य पक्षधर्मता में निहित घटक पक्ष के पक्षत्व की विवेचना है। पक्षता का विवेचन करते समय इसके तार्किक पहलू पर ही बल दिया गया है। प्रमाणमीमांसीय तथा वस्तुमीमांसीय दृष्टि से पक्षता के विषय में जो प्रश्न खड़े होते हैं उनका विवेचन करना प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य नहीं है। इस निबन्ध के तीन खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में इस प्रचलित धारणा का निषेध करने का प्रयास किया गया है कि पक्ष तथा अरस्तू के निरपेक्ष न्याय वाक्य में प्रयुक्त अमुख्य पद की भूमिकाओं में समानता है। द्वितीय खण्ड वस्तुतः तत्त्वचिन्तामणि के अनुमान खण्ड में आये हुए पक्षता प्रकरण का अनुवाद है। तृतीय खण्ड में पक्षता के सिद्धान्त-लक्षण का तथा उसमें प्रयुक्त तकनीक का स्पष्टीकरण किया गया है।

I

भारतीय दर्शन की अधिकांश पुस्तकों में पक्ष को अमुख्य पद के पर्याय के रूप में ग्रहण किया गया है। इसका कारण यह धारणा है कि अरस्तू के निरपेक्ष न्याय वाक्य की संरचना तथा भारतीय दर्शन के अनुमान की संरचना में मूलतः समानता है। इसी आधार पर श्री एस. सी. विद्याभूषण ने अपने ग्रन्थ ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लॉजिक में भारतीय अनुमान के आकार पर अरस्तू के न्याय वाक्य का प्रभाव दिखाने की चेष्टा की है।[1] श्री बी. के. मतिलाल ने अपने ग्रन्थ लॉजिक, लैंग्वेज एण्ड रियालिटी में इस धारणा का विरोध तो किया है, लेकिन विरोध का स्वर तीखा नहीं है। उनका कहना है कि भिन्नता होते हुए भी दोनों में मूलतः समानताएँ हो सकती हैं।[2] हमारी धारणा है कि दोनों में मूलतः भिन्नता है। यद्यपि इस प्रतिज्ञा को सिद्ध करना प्रस्तुत लेख का प्रयोजन नहीं है फिर भी पक्ष विचार से हमारी प्रतिज्ञा को बल मिल सकता है। भारतीय दर्शन के अधिकांश लेखकों ने अरस्तू के अमुख्य पद

---

1. विद्याभूषण, एस. सी. : ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लॉजिक (कलकत्ता, 1920) एपेण्डिक्स बी.

2. मतिलाल, बी. के., लॉजिक, लेंग्वेज एण्ड रियालिटी, (दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, 1985), पृ. 5

को भारतीय न्याय में प्रयुक्त पक्ष का पर्याय माना है। यहाँ पर हम चन्द्रधर शर्मा द्वारा **ए क्रिटिकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलासफी** में निरूपित पक्ष की भ्रामक धारणा का स्पष्टीकरण करेंगे। विद्वान लेखक का कहना है कि भारतीय न्याय-शास्त्र में प्रयुक्त साध्य, हेतु तथा पक्ष पद क्रमशः अरस्तू द्वारा न्याय वाक्य में प्रयुक्त मुख्य, मध्य तथा अमुख्य पद के समानार्थक हैं।[3] विद्वान लेखक ने न्यायशास्त्र में प्रयुक्त अनुमान के आकार को अरस्तू के न्याय-वाक्य के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। लेकिन ऐसा करने पर मुख्य, अमुख्य तथा मध्य पदों के अर्थ तथा भूमिका में पर्याप्त अन्तर आ जायेगा। "सभी पर्वत वह्निमान् हैं, धूमवान् होने से"—इस सहेतुक अनुमान को यदि अरस्तू के न्यायवाक्य (प्रथम आकृति) में रखने का प्रयास करें तो इसका स्वरूप इस प्रकार होगा—

सभी धूमवान् वह्निमान् हैं।
सभी पर्वत धूमवान् हैं।
अतः सभी पर्वत वह्निमान् हैं।

इस न्यायवाक्य में मुख्य पद **वह्निमान् है,**
अमुख्य पद **पर्वत** है,
तथा मध्य पद **धूमवान् है।**

भारतीय मतानुसार इस न्याय में साध्य **वह्नि** है,
पक्ष **पर्वत** है, तथा
हेतु **धूम** है।

स्पष्ट है कि साध्य और मुख्य पद तथा हेतु और मध्य पद समानार्थक नहीं हैं। इनके समानार्थक होने पर मध्य पद की भूमिका में भी पर्याप्त असमानता होगी। भारतीय दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि अरस्तू का वैध न्याय-वाक्य मात्र "पक्ष" और "सपक्ष" के स्तम्भ पर व्यवस्थित है, उसमें साध्य और हेतु की भूमिका के लिए स्थान नहीं है। अरस्तू ने प्रथम आकृति के सन्दर्भ में मध्य पद की परिभाषा देते हुए कहा है कि मध्य पद अमुख्य पद को अपने अन्दर धारण करता है तथा स्वयं मुख्य पद में अन्तर्निहित रहता है।[4] यदि हम साध्य तथा मुख्य पद को, हेतु तथा मध्य पद को और पक्ष तथा अमुख्य पद को समानार्थक मानते हैं, तो हमें यह कहना पड़ेगा कि धूम (मध्य पद) में पर्वत (अमुख्य पद) होता है तथा वह्नि (मुख्य पद) में धूम (मध्य पद) होता है जो स्पष्टतः ही भारतीय न्यायशास्त्र में मान्य साध्य, हेतु और पक्ष की धारणा के प्रतिकूल है। प्रथम आकृति के सन्दर्भ में अमुख्य पद वह है जो मध्य पद में अन्तर्निहित रहता है। क्या यह कहना समीचीन होगा कि पर्वत धूम में रहता है? यदि नहीं, तो इसका कारण क्या है? इसका कारण यह है कि पक्ष, साध्य और हेतु पर व्यवस्थित अनुमान का आकार अरस्तू के न्यायवाक्य के आकार से पूर्णतः भिन्न है। स्पष्ट है कि अमुख्य

---

3. शर्मा. सी. डी.–ए क्रिटिकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, (1973) पृ. 198

4. अरस्तू, एनलिटिका प्रायरा, सम्पादित तथा अनुवादित रास, डब्ल्यू. डी. –द वर्क्स ऑफ एरिस्टाटल के प्रथम खण्ड में, लण्डन : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस 1928), बुक 1.4

पद और पक्ष के अर्थ में पर्याप्त भिन्नता है क्योंकि पक्ष की परिभाषा में यह नहीं कहा जा सकता है कि पक्ष (पर्वत) वह है जो मध्य पद (धूम) में रहता है ।

II

तत्वचिन्तामणि में पक्षता प्रकरण[5] : (1) व्यक्ति के अनन्तर पक्षधर्मता का निरूपण किया जाता है । उसमें (पक्षधर्मता में घटक) पक्षता सन्दिग्धसाध्यरूपधर्मत्व नहीं है । इस प्रकार लक्षण करने पर दो आपत्तियां आती हैं—(1) सन्देह को विशेषण मानने पर तथा (2) सन्देह को उपलक्षण मानने पर सन्देह को (साध्यधर्म) का विशेषण नहीं माना जा सकता है; क्योंकि, परामर्श के पूर्व लिङ्गदर्शन से व्याप्ति का स्मरण होने पर उसका नाश हो जायेगा (क्योंकि, तब साध्य निश्चित होगा ।) सन्देह उपलक्षण भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ऐसा होने पर (उपलक्षण के अवारक होने से) अव्यावर्त्तक की आपत्ति आयेगी । (विशेषण व्यावर्तक होता है; उपलक्षण व्यावर्तक नहीं होता है इसलिए सिद्धस्थल में भी अनुमिति की सम्भावना आ जायेगी) ।

(2) (पक्षता) साध्य निश्चय (साधक प्रमाण) तथा बाध निश्चय (बाधक प्रमाण) का उभयाभाव भी नहीं है । क्योंकि, उभयाभाव (उन दोनों में से) किसी एक होने पर भी घटित हो जायेगा । वह (उनका) अभावद्वय (अन्यतराभाव—साध्यनिश्चय या बाधनिश्चय का अभाव) रूप वाली भी नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर "बाधक-प्रमाणाभाव" घटक (लक्षण में) व्यर्थ हो जायेगा; क्योंकि बाध के रहने पर भी पर्वतादि में पक्षता आ जाती है यद्यपि असिद्ध आदि हेत्वाभासों के रहने से वहाँ अनुमिति नहीं होती है । (जहाँ पर बाध हेत्वाभास आता है वहाँ पर असिद्ध या सव्यभिचार अवश्य आते हैं) पक्षता साध्यनिश्चयाभाव (साधकप्रमाणाभाव) रूप भी नहीं मानी जा सकती है; क्योंकि समानविषयक श्रवण के अनन्तर श्रुति ने मनन का विधान किया है । प्रत्यक्ष से ज्ञात वस्तु का भी अनुमान से ज्ञान होता है । एक हेतु से ज्ञान होने पर भी साध्य के अन्य लिङ्ग से अनुमान की उत्पत्ति सिद्ध ही है ।

(3) अतः सिसाधयिषित साध्यधर्म से युक्त धर्मी ही पक्ष है । इसलिए मनन भी मोक्ष का उपाय है, ऐसा जानकर शब्द मे ज्ञात (उस) सिद्धविशेष (आत्मा) का अनुमिति की इच्छा के कारण अनुमान करते हैं । अतः वाचस्पति मिश्र के (इन दोनों) कथनों में—प्रत्यक्षसिद्ध वस्तु की सिद्धि के लिए तर्करसिक अनुमान से सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं तथा हाथी के प्रत्यक्ष होने पर उसके "चीत्कार" से कोई उसका अनुमान नहीं करता है—कोई विरोध नहीं है; क्योंकि एक स्थल पर अनुमिति की इच्छा है तथा दूसरे स्थल पर उसका अभाव है । यह मत भी ठीक नहीं है । क्योंकि सन्देह की तरह अनुमिति की इच्छा के अभाव तथा उसकी योग्यता के अनिरूपण के रहने पर भी, सिसाधयिषा के अभाव में भी तृतीय लिंग परामर्श के आधार पर बादल के गर्जन से (आकाश)में बादल का अनुमान होता है ।

(4) (पक्षता का सिद्धान्तलक्षण) कहा जाता है—सिषाधयिषा विरह (अभाव) से विशिष्ट साधक प्रमाणाभाव (सिद्ध्यभाव) ही पक्षता है तथा उसका आश्रय पक्ष है । इससे जहाँ

5. तत्वचिन्तामणि में "पक्षता प्रकरणम्", गादाधरी (वाराणसी : चौखम्भा संस्कृत सीरीज़ आफिस, 1970), पृ 1079-1088 तक ।

पर अनुमिति की इच्छा का अभाव तथा सिद्धि दोनों रहेंगे वह पक्ष नहीं होगा। अनुमिति की इच्छा के रहने पर सिद्ध्यभाव हो या सिद्धि हो (पक्षता आ जाएगी); अथवा साधकप्रमाणाभाव और सिद्ध्यभाव दोनों के उभयाभाव होने पर भी विशिष्टाभावरूप पक्षता वहाँ आ जाएगी। यद्यपि पक्षत्व के केवलान्वयी होने के कारण (उसका लक्षण) व्यावर्तक नहीं है तथापि वह पक्ष पद की प्रवृत्ति के निमित्त का कारण है।

III

व्यावृत्ति और व्यवहार लक्षण के दो प्रयोजन हैं। पक्षता के केवलान्वयी धर्म होने के कारण उसके लक्षण का प्रयोजन व्यावृत्ति न होकर मात्र व्यवहार है। बौद्ध न्याय से न्यायशास्त्र का यह प्रमुख भेद है। प्रमाण-व्यवस्थावादी होने के कारण पक्षता बौद्ध-दर्शन में केवलान्वयी धर्म नहीं है, क्योंकि वहाँ प्रमेय भेद से प्रमाण का भेद हो जाता है।[6] न्याय दर्शन प्रमाणसंप्लववाद को स्वीकार करता है। अतः प्रत्यक्षगोचर प्रमेय भी अनुमान-प्रमाण के विषय हो सकते हैं। ऐसा होने से पक्षता के केवलान्वयी होने में कोई बाधा नहीं आती है।

तत्त्वचिन्तामणिकार ने पक्षता के पाँच लक्षणों का खण्डन किया है। (1) पक्षता सन्धिग्धसाध्यरूप वाली नहीं है, क्योंकि हेतु के दर्शन के पश्चात् तथा व्याप्ति के स्मरण से इसका नाश हो जाएगा। अनुमिति के लिए पक्षधर्मता भी प्रयोजक होती है। लेकिन सन्देह के नाश के कारण पक्षता के न होने के कारण पक्षधर्मता नहीं बनेगी। परामर्श अनुमिति का कारण है लेकिन उस समय पक्षता के न होने के कारण परामर्श रुक जाएगा तथा अनुमिति नहीं हो सकेगी। मुख्य कारण यह है कि जहाँ सन्दिग्ध साध्य नहीं रहता है वहाँ भी अनुमिति होती है।

(2) पक्षता साध्यनिश्चय या बाधनिश्चय का उभयाभाव रूप नहीं है क्योंकि साध्यनिश्चय रहने पर भी उभयाभाव घटित हो जाएगा।

(3) पक्षता साध्यनिश्चय या बाधनिश्चय का अभाव (अन्यतराभाव) भी नहीं है; क्योंकि जहाँ पर बाधनिश्चय रहता है वहाँ भी पक्षता आ जाती है; लेकिन अन्य हेत्वाभासों के रहने के कारण अनुमिति नहीं होती है।

(4) पक्षता साधकप्रमाणाभावरूप वाली भी नहीं है, क्योंकि जहाँ साधकप्रमाण (प्रत्यक्षादि प्रमाण) होते हैं वहाँ भी अनुमान प्रमाण की गति होती है। यह बौद्ध मत का खण्डन है।

(5) साध्य को सिद्ध करने की इच्छा को भी पक्षता का लक्षण नहीं माना जा सकता है क्योंकि लक्षण अव्याप्तिदोष से दूषित हो जाएगा। जहाँ पर इस प्रकार की इच्छा का अभाव रहता है वहाँ भी अनुमिति होती है।

इन पाँच लक्षणों का खण्डन करने के पश्चात् गंगेश ने सिद्धान्त-लक्षण की इस प्रकार व्यवस्था की है—

---

6 मानं द्विविधं विषयद्वैविध्यात्—
प्रमाणवार्त्तिक, सं. द्वारिकाप्रसाद शास्त्री, (वाराणसी, बोध भारती, 1968), प्रत्यक्षपरिच्छेद।

पक्षता = सिषाधयिषाविरहसहकृतसाधकप्रमाणाभाव
= सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभाव ।[7]

उपर्युक्त लक्षण में विशिष्टाभाव का प्रवेश किया गया है जिसका स्पष्टीकरण आवश्यक है । विशिष्टाभाव नव्यन्याय का स्ट्रोकफलन है । अतः "क" – विशिष्ट–"ख" के अभाव को निम्नांकित ढंग से परिभाषित किया जा सकता है :

"क" – विशिष्ट – "ख" का अभाव तभी सत्य होता है जब कम से कम उन दोनों में से एक का अभाव हो, अन्यथा यह असत्य होता है । यदि "क" या "ख" के अभाव को "0" से तथा अस्तित्व को "1" से संकेत करें तो विशिष्टाभाव की सत्यता-सारणी निम्नांकित ढंग से निर्मित की जा सकती है—

क	ख	क विशिष्ट + ख का अभाव
1	1	0
1	0	1
0	1	1
0	0	1

उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है कि विशिष्टाभाव "स्ट्रोक फलन" है । तीन परिस्थितियों में विशिष्टाभाव होगा तथा एक स्थिति में नहीं होगा । इसी बात को नव्यन्याय की शब्दावली में कहा जाता है कि विशिष्टाभाव के तीन प्रयोजक हैं—विशेषणाभाव (क का अभाव), विशेष्याभाव (ख का अभाव) तथा उन दोनों का अभाव-उभयाभाव । पक्षता के लक्षण में क= सिषाधयिषा का विरह (अभाव) अर्थात् अनुमति की इच्छा का अभाव

= ∽ प (जहाँ प = सिषाधयिषा तथा "∽" से अभाव विवक्षित है)

तथा ख = सिद्धि

तो पक्षता = ∽ (∽ प, ख)

प ∽ ख

$$= \text{प ख} + \text{ख}\ \overline{\text{ख}} + \overline{\text{प}}\ \overline{\text{ख}} \quad \text{— (1)}$$

समीकरण (1) पक्षता के लक्षण को पूर्ण D. N. F. में प्रस्तुत करता है । हम जानते हैं कि किसी सूत्र का पूर्ण डी. एन. एफ. यह बताता है कि किन परिस्थितियों में सत्य होगा । अतः समीकरण (1) से स्पष्ट है कि पक्षता का लक्षण निम्नांकित तीन स्थितियों में होगा –

(1) (प) सिषाधयिषा और सिद्धि (ख) के होने पर;
(2) (प) सिषाधयिषा और सिद्धि (ख) के अभाव के होने पर
(3) (प) सिषाधयिषा का अभाव हो तथा सिद्धि (ख) का अभाव हो ।

---

7. सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावः पक्षता, तद्वान् पक्षः इत्यर्थः । न्यायसिद्धान्तमुक्तावली (वाराणसी : चौखम्भा संस्कृत सीरीज़ आफिस), पृ. 232

निम्नांकित एक स्थिति में पक्षता नहीं घटित होगी : जब (प) सिषाधयिषा का अभाव तथा सिद्धि दोनों रहेंगे। ऐसी परिस्थिति में सिषाधयिषाविरहविशिष्ट सिद्धिरूप प्रतियोगी के सत्य होने के कारण इसका अभाव नहीं मिलेगा तथा पक्षता नहीं आयेगी। यह लक्षण किसी दोष से दूषित न होने के कारण निर्दुष्ट लक्षण है। निर्दुष्टलक्षण के विधान में स्ट्रोकफलन (विशिष्टाभाव) का प्रयोग इस लक्षण का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू है।

दर्शन विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी–221005

4

गीता में स्थितप्रज्ञ की पृष्ठभूमि का विवेचन*

चन्द्रप्रकाश श्रीवास्तव

भगवद्गीता में शुरु से ही मानव-आचरण के मानक की प्रधान समस्या है। जगत् में मानव के आचरण का प्रश्न निस्संदेह नीतिशास्त्र का विषय-प्रदेश है। अर्जुन की परिस्थिति-विशेष में क्यों और कैसे एक विशेष आचरण करना चाहिये ? क्या वही उसका कर्त्तव्य होगा ? पर, देश-काल एवं परिस्थितियों के परिवर्तन का प्रभाव भी हमारे आचरण पर पड़ता है। अतः यदि आचरण की कोई सुपरिभाषित नियमावलि नहीं है तो क्यों न हम कर्म मात्र से विरत हो जायें ? अन्य शब्दों में, हमारे व्यवहार का औचित्य प्रस्तुत करने वाला मापदण्ड क्या है ? यह सत्य है कि जब हम मनुष्य के किसी आचरण को उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ, वांछनीय-अवांछनीय संप्रत्ययों के प्रयोग द्वारा परिभाषित करते हैं तो अपने सम्मुख एक मापदण्ड को रखते हुए ही ऐसा करते हैं। यह भी सत्य है कि नैतिकता की कतिपय पूर्वमान्यताएं होती हैं किन्तु नैतिक विवेचन में सहायक होते हुए भी वे किसी आचरण के औचित्य को स्पष्टतः स्थापित नहीं कर सकतीं। इससे प्रमाणित होता है कि नैतिकता की पूर्व-मान्यतायें नैतिक विवेचन के लिए अनिवार्य तो हैं किन्तु उसके लिए पर्याप्त नहीं हैं। क्या नैतिकता के लिए बुद्धि पर्याप्त आधार हो सकती है ?

उपर्युक्त प्रश्न के हल के अनुसंधान में गीता पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो देखते हैं कि गीता के द्वितीय अध्याय में ही बुद्धि और प्रज्ञा शब्दों का अनेक श्लोकों में प्रयोग किया गया है। बुद्धि का 2/39, 41, 49, 50, 51, 52, 53, 63, 65 एवं 66वें श्लोक में तथा प्रज्ञा का 2/11, 54, 55, 57, 58, 61, 67 व 68वें श्लोक में। बुद्धि और प्रज्ञा शब्दों के सहवर्ती तथा बारम्बार उल्लेख से एसा प्रतीत हो सकता है कि उपर्युक्त दोनों शब्द समानार्थक हैं। किन्तु यह सत्य नहीं है। दोनों शब्दों में सूक्ष्म अन्तर है। सर्वप्रथम बुद्धि क्या है ? गीता के अनुसार बुद्धि के नाश होने से सर्वनाश हो जाता है, अर्थात् पुरुष अपने श्रेय-

---

*अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के आगरा कॉलेज, आगरा में आयोजित 1989 के अधिवेशन में प्रस्तुत।

साधन से गिर जाता है (बुद्धिनाशात्प्रणश्यति–2/63) गीता में आगे 3/42–43 में कृष्ण ने इंद्रियों से श्रेष्ठ एवं सूक्ष्म मन को, मन से परे बुद्धि को और बुद्धि से परे आत्मा को बताया है, साथ ही बुद्धि द्वारा मन को वश में करके कामरूप शत्रु (आसक्ति, मोह) को मारने को कहा है। इस हेतु बुद्धि बाह्य विषयों से इंद्रियों को मन के द्वारा जैसे ही समेट लेती है उस में संतुलन आने लगता है। अन्य शब्दों में, बुद्धि स्वभावतः विषयाभिमुख होती है और विषयासक्ति से इंद्रियों एवं मन को हटा कर अन्तर्मुखी करना, बुद्धि में संतुलन लाना (बुद्धिः पर्यवतिष्ठते 2/65) है। यह एक मनोवैज्ञानिक और तार्किक स्तर की चेतना का निदर्शन है।

परन्तु प्रज्ञा में प्रतिष्ठित होना या स्थितप्रज्ञ होना चेतना का आध्यात्मिक स्तर पर अवस्थित होना है। तब व्यक्ति की आत्मा पूर्ण आप्तकामता, पूर्ण आत्मसंतुष्टि का अनुभव करती है।[1] पर प्रज्ञा के स्तर पर होना सहज नहीं है। अपनी इच्छाओं के मनोवैज्ञानिक एवं तार्किक नियमन के उपरान्त ही व्यक्ति इस अपूर्व ज्ञान में प्रतिष्ठित होता है। इससे सिद्ध होता है कि स्थितप्रज्ञ की अवधारणा में मनोवैज्ञानिक तथा तार्किक स्तर के प्रयोग और महत्त्व को गीता में स्पष्टतः स्वीकार किया गया है। स्थितप्रज्ञ के विषय में कहा गया है कि वह "देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ.............सब इंद्रियाँ अपने-अपने अर्थों में वर्त रही हैं, इस प्रकार समझता हुआ, अपने को अकर्त्ता मानता है"।[2]

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि बुद्धि और प्रज्ञा का गीता में समानार्थक प्रयोग नहीं है तथा पाश्चात्य दर्शन की ज्ञानमीमांसा का आधार यहाँ से सर्वथा भिन्न है। वहां ज्ञानमीमांसा के अन्तर्गत ज्ञान का सैद्धान्तिक विवेचन मनोवैज्ञानिक और तार्किक विधि द्वारा हुआ है। अर्थात् ज्ञान का स्रोत, उत्पत्ति, सीमा और प्रामाणिकता का विवेचन, ज्ञेय का ज्ञाता से स्वतंत्र या ज्ञाता पर परतंत्र होना आदि। कान्ट (1724–1804) ने ज्ञान की समस्या पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है। उनकी पुस्तक **क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न** (178) में 'अंडरस्टेंडिंग' तथा 'प्योर रीज़न' दोनों शब्दों का अनेकशः प्रयोग हुआ है जिनके हिन्दी अनुवाद क्रमशः 'विषय-बुद्धि' और 'शुद्ध बुद्धि' किये जाते हैं। वहां कान्ट ने इंद्रियसंवेद के साथ बुद्धि के कुछ प्रागनुभविक आकारों या शुद्ध प्रत्ययों की चर्चा की है जिनके अभाव में ज्ञान सम्भव नहीं हो सकता। अर्थात् ज्ञान में संवेदन तथा प्रत्ययों दोनों का योगदान अनिवार्य होता है। पर यह ज्ञान की संरचना का मनोवैज्ञानिक विवरण है और कान्ट का उद्देश्य ज्ञान के मनोवैज्ञानिक निरूपण की अपेक्षा तार्किक विवेचन करना था। अतः उनके विवेचन का केन्द्र-बिन्दु विषय-बुद्धि न होकर "शुद्ध बुद्धि" है। यही कारण था कि कांट ने बुद्धि का "क्रिटीक" न लिखकर शुद्ध बुद्धि का "क्रिटीक" लिखा। यद्यपि मानव में बुद्धि और शुद्ध-बुद्धि सर्वथा अलग-अलग क्षमतायें नहीं हैं पर विचार के स्तर पर वे पृथक् अवधार्य हैं। बुद्धि विषयाभिमुख है जबकि शुद्ध बुद्धि विषयी की अपनी ओर उन्मुखता। वस्तुतः शुद्ध बुद्धि की विवेचना के अंतर्गत

---

1. आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदुच्यते।
　　　　　　भगवद्गीता, 2/55
2. वहीं, 5/8–9

संवेदनात्मक तथा प्रत्ययात्मक दोनों तत्त्वों के स्रोत का समीक्षात्मक अध्ययन है ।[3] पर उल्लेखनीय बात यह है कि कांट के प्रथम क्रिटीक का सारांश उनके इस निष्कर्ष से अभिव्यक्त होता है कि "आस्था (फेथ) को स्थान देने के लिये मैंने बुद्धि की सीमाओं का निर्धारण किया है ।"[4] इस प्रकार नैतिकता की पूर्वमान्यताओं में उक्त आस्था रखते हुए ही कान्ट ने अपनी दूसरी पुस्तक **क्रिटीक ऑफ प्रेक्टिकल रीज़न** (1788) लिखी । अर्थात् कान्ट ने ज्ञान के विवेचन के बाद ही नैतिक विवेचन किया है । इसके विपरीत गीता में नैतिक पक्ष पहले उपस्थित है और ज्ञान का विवेचन उसी संदर्भ से प्रारम्भ होता है । विवेक के मूर्तिमान स्वरूप कृष्ण नैतिक चेतना के दिग्भ्रमित रूप (धर्मसम्मूढ़चता) अर्जुन को दिशा-निर्देश देते हैं ।

मोहग्रस्त अर्जुन कर्म से सर्वथा विरत था । अतः सबसे पहले उसकी बुद्धि को आन्दोलित करके कृष्ण ने उसमें कर्म के प्रति आस्था और आकर्षण उत्पन्न किया जिससे अर्जुन कर्म में संलग्न हो सके । सामान्य बुद्धि हानि-लाभ, सिद्धि-असिद्धि को ध्यान में रख कर ही किसी कर्म में प्रवृत्त होती है । अतः कृष्ण बुद्धि को सहज आश्वस्त करने वाली युक्तियों से अपना संवाद आरम्भ करते हैं:

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ (2.37)

" अर्थात् युद्ध करना तेरे (अर्जुन) लिये सभी प्रकार से अच्छा है, लाभकारी है । क्योंकि या तो युद्ध में मारे जाने पर स्वर्ग को प्राप्त होगा अथवा जीतकर पृथ्वी को भोगेगा । इससे हे अर्जुन ! तू युद्ध के लिए निश्चय वाला होकर खड़ा हो ।"

यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो उपर्युक्त युक्ति का व्यावहारिक (प्रेग्मेटिक) स्वरूप स्पष्ट हो जाता है । तर्कशास्त्र की शब्दावली में युक्ति के इस प्रकार को उभयतः पाश कहते हैं । अर्थात् प्रतिवादी को दोनों तरफ बधनों से बांध देना, दो विकल्पों को उसके सम्मुख इस प्रकार प्रस्तुत करना कि वह जिसे भी चुने उसी के द्वारा वादी का मंतव्य सिद्ध होता हो । उपर्युक्त उभयतः पाश को एक प्रति-उभयतः पाश द्वारा हम हटा सकते हैं :

" युद्ध करना अर्जुन के लिये सभी प्रकार से हानिकर है, क्योंकि या तो युद्ध में मारे जाने पर वह पृथ्वी भोगने से वंचित रहेगा अथवा युद्ध जीतने पर स्वर्ग को प्राप्त नहीं कर सकेगा । वह या तो युद्ध में मारा जायेगा या युद्ध को जीतेगा और दोनों ही स्थितियां उसके लिये अप्रीतिकर होंगी ।" यद्यपि इस युक्ति पर निराशावादी होने का आरोप लगाया जा

---

3. "There are two stems of human knowledge namely sensibility and understanding, which perhaps spring from a common, but to us unknown root".
Kant's Critique of Pure Reason, (tr.) Smith, N. K.. B 30, A 16.
4. 'I have therefore found it necessary to deny knowledge in order to make room for faith'.
Ibid, 'Preface to Second Edition' Exxx
5. गीत, 2/37

सकता है पर निश्चितरूप से यह युक्ति गीता की उपर्युक्त युक्ति के प्रतिवाद का प्रयास करती है।

प्रोफेसर रानडे ने भी गीता के कुछ श्लोकों में विद्यमान कतिपय अनौपचारिक तर्क-दोषों का उल्लेख किया है।[6] उदाहरण के लिए गीता (3/20) में कहा गया है: "कर्मणेव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय: " अर्थात् जनकादि ज्ञानी महापुरुष भी कर्म के द्वारा ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए हैं। इसमें व्यक्तिपरक युक्तिदोष (आरगुमेन्टम एड होमिनम) विद्यमान है। जनक राजा थे। राजा के लिये प्रजा-हेतु अनेक प्रकार के कार्य करने अपरिहार्य होते हैं। पर, इसी कारण जनक के मोक्ष में उनके कर्मों को एकमात्र कारण मानना उपर्युक्त अनौपचारिक युक्तिदोष है। पुन: गीता (3/21) में उल्लेख है:

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जना: ।
स: यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।।

अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जो आचरण करता है अन्य पुरुष भी उस-उस के ही अनुसार बर्तते हैं। वह पुरुष जो कुछ प्रमाणित कर देता है लोग भी उसका अनुसरण करते हैं। इस श्लोक में श्रद्धामूलक अनौपचारिक युक्तिदोष (आरगुमेन्टम एड वेरीकंडियम) है। युक्तिदोष में किसी निष्कर्ष की स्वीकृति प्राप्त करने के लिये विशिष्ट जनों या महापुरुषों के प्रति लोगों के आदर भाव का उपयोग किया गया है। परन्तु यदि श्रेष्ठ व्यक्ति ने किसी विशेष देश-काल में कोई कार्य किया है या सिद्धान्त दिया है तो इसी आधार पर उसे जगत् में सार्वभौमरूप से व्यावहारिक नहीं बनाया जा सकता। महान लोग नैतिक दृष्टि से भयंकर भूलें भी कर बैठते हैं।

गीता के प्रारम्भिक अध्यायों में ये युक्तिदोष विद्यमान हैं तथा इन युक्तियों की संक्षिप्त व्याख्या और समीक्षा निरर्थक बौद्धिक विलास नहीं है अपितु इससे यह प्रमाणित होता है कि बुद्धि की तार्किक स्थापनायें निर्विवाद निष्कर्ष नहीं हो सकती। बुद्धि श्रेयस् का साधन है। अनवरत प्रश्नों को धारण करती यह एक प्रवहमान शक्ति है। यदि बुद्धि किसी प्रतिज्ञा को स्थापित करती है तो तभी उसका प्रतिपक्ष भी आयेगा, और यदि दोनों का समन्वय किसी उत्तरतर चरण में होता भी है तो वह नवीन समन्वय स्वयं भी तत्क्षण एक पक्ष, एक स्थापना का रूप ले लेगा और प्रतिपक्ष को देखेगा। इस प्रकार प्रश्नों-प्रतिप्रश्नों का अनवरत क्रम चलता रहेगा।

गीता के रचनाकार को युक्तियों की सीमायें विदित थीं। अत: अनेक युक्तियों द्वारा निष्काम कर्मयोग को उचित एवं श्रेष्ठ सिद्ध करने के उपरांत कृष्ण ने आगे (गीता 11/9) अर्जुन को अपना ऐश्वर्ययुक्त दिव्य रूप दिखाया है। यही ईश्वर-साक्षात्कार है। इससे सिद्ध है कि शास्त्रों का मात्र सैद्धांतिक निरूपण पर्याप्त नहीं होता। ईश्वर-साक्षात्कार में मानव

---

6. Ranade, R. D., The Bhagavadgita as a Philosophy of God-Realization, p. 197.

की परिपूर्णता होती है। संत कबीर ने भी कहा है : "तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आंखिन की देखी।" अब यह स्वाभाविक प्रश्न है कि ईश्वर-साक्षात्कार के बाद उस विशिष्ट मनुष्य या स्थितप्रज्ञ में क्या कोई और परिवर्तन आता है अथवा नहीं ? स्थितप्रज्ञ तो पहले ही दुःख-सुख, हानि-लाभ आदि से ऊपर और अकर्ता होता है। पर वह अकर्ता इसलिये है कि वह स्वयं को आत्मा तथा जगत् में अपने कार्यों को प्रकृति के विकारों की क्रियाशीलता ही मानता है। अर्थात् प्रकृति के विकार बुद्धि, मन और इंद्रियां ही कर्म करते हैं, स्वयं आत्मा नहीं।[7] पर अब वह ईश्वरार्पण के भाव से कर्म करता है, अपने मन, बुद्धि और कर्मों को ईश्वर को समर्पित करते हुए तथा ईश्वर के उपकरण के रूप में स्वयं को मानते हुए वह विभिन्न कार्य करता है।[8] ऐसा व्यक्ति शुभ-अशुभ कर्मों से परे होता है क्योंकि ये संप्रत्यय नैतिक हैं और आध्यात्मिक क्षेत्र में इनका प्रयोग कोई अर्थ उद्घाटित नहीं करेगा, क्योंकि नैतिक और आध्यात्मिक क्षेत्र मानव की चेतना के पृथक्-पृथक् क्रमशः विकासमान सोपान हैं।

इस संदर्भ में प्रसिद्ध अस्तित्ववादी सोरेन किर्केगार्ड (1813–1855) द्वारा प्रस्तुत एक उदाहरण प्रासंगिक होगा। वे "फीयर एण्ड ट्रेम्बलिंग" में अब्राहम एवं उसके इकलौते पुत्र आइज़क की उस स्थिति का विशद विवेचन करते हैं जिसमें ईश्वर द्वारा अब्राहम को आदेश होता है कि वे अपनी सबसे प्रिय वस्तु को ईश्वर हेतु बलि दे दें। अब्राहम के लिए सर्वाधिक प्रिय उसका अपना इकलौता पुत्र आइज़क है जो उसकी वृद्धावस्था में ईश्वरीय अनुकम्पा से उत्पन्न हुआ था। यह बलि सहसा, एक आवेश में, तत्काल नहीं देनी है। लगभग चार दिनों की दुर्गम यात्रा के बाद मोरिया पर्वत पर पहुँचकर स्वयं अपने हाथों देनी है। अर्थात् ईश्वरीय आदेश से किसी भी बिन्दु पर वह च्युत हो सकता था।

अब्राहम द्वारा अपने पुत्र आइज़क की बलि (जो अन्ततः ईश्वरीय आदेश से रोक दी गयी) देने की क्रिया नैतिक दृष्टि से उचित नहीं है किन्तु अब्राहम तो नैतिक स्तर का अतिक्रमण कर आध्यात्मिक स्तर पर पहुँच चुका था, उसे किर्केगार्ड ने सर्वोच्च प्रकार का व्यक्ति, आस्थामय शूर (नाइट आफ फेथ) कहा है जो आस्था और विश्वास से अशेष आप्यायित होकर जीता है। उल्लेखनीय है कि अब्राहम धन, यश या शक्ति आदि के लिये, या किसी अन्य लोभ से आइज़क की बलि देने नहीं जा रहा था अपितु ईश्वरीय विधान में अपने को माध्यम बनने को सहज स्वीकार कर रहा था। वह सहज प्रवृत्यात्मक स्तर तथा नैतिक स्तर दोनों को लांघते हुए आध्यात्मिक स्तर पर पहुँच चुका था। इसे ही 'किर्केगार्डियन लीप" कहा गया है।

उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में जब हम अर्जुन पर विचार करते हैं तो यह देखते हैं कि अर्जुन कुरुक्षेत्र के युद्ध से इसलिये पलायित नहीं हो रहा था क्योंकि उसमें आध्यात्मिक चेतना जग उठी थी, या कि उसने निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया था, या कि अब सन्यासी होना वह अपने जीवन का लक्ष्य मान चुका था, अपितु वह अपने आत्मीयों, सम्बन्धियों, पूर्व मित्रों, जो अब समय के परिवर्तन से उसके शत्रु बन गये थे, की हत्या को पाप समझ रहा

7. गीता, 3/27
8 वहीं, 12/6–14

था । यदि वे स्वजन न रहे होते तो क्या अर्जुन युद्ध नहीं करता ? क्या उसने अभी तक घोर युद्ध नहीं किये थे ? अर्जुन निरे सहज प्रवृत्त्यात्मक स्तर पर था जहां मोह, लोभ, लाभ, सुख-दुःख आसक्ति की भावनायें उसका बुद्धि को भ्रमित कर रही थीं । अतएव कृष्ण के लिये अर्जुन को इन सबसे मुक्त कराना व्यापक मानवता के हित में आवश्यक था ।

यहां महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कृष्ण अर्जुन को अपने ज्ञान तथा उपदेशों से न तो हतप्रभ करना चाहते हैं और न ही दिव्य स्वरूप से उसे चमत्कृत करके युद्ध कराने का प्रयास करते हैं । क्योंकि समस्त ज्ञान और दिव्य दर्शन देने के उपरान्त भी वे अर्जुन को अपना स्वतन्त्र निर्णय लेने को कहते हैं । "इस रहस्ययुक्त ज्ञान को सम्पूर्णतः अच्छी प्रकार विचार कर, फिर तू जैसे चाहता है वैसा ही कर" अर्थात् जैसी तेरी इच्छा हो, वैसे ही कर ।[9] (विमृश्यैतदशेषेण, यथेच्छसि तथा कुरु) ।

हम पुनः देखते हैं कि मानव द्वारा निर्णय लेने या वरण की स्वतन्त्रता, जो समकालीन अस्तित्ववाद का मूल स्वर है, की दूरगामी जड़ें गीता में परिलक्षित होती हैं । व्यक्ति यद्यपि कर्तृत्वभाव का आध्यात्मिक सत्ता से साक्षात्कार के साथ ही ईश्वर को समर्पण कर देता है पर क्योंकि समर्पक भी वही है अतः उसकी सत्ता सर्वथा तिरोहित नहीं हो जाती । साधक और साध्य का अविकल सम्बन्ध होता है, व्यक्ति स्वयं ईश्वर तो नहीं बन जाता पर उसका शाश्वत सान्निध्य अवश्य प्राप्त कर लेता है । प्रोफेसर राधाकृष्णन् भी कहते हैं कि गीता में साधर्म्य पर बल दिया गया है न कि तादात्म्य या सायुज्य पर ।[10]

निष्कर्ष यह कि अर्जुन की नियति कृष्ण में विलीन होना नहीं है । कृष्ण स्वयं ऐसा नहीं चाहते । वे उसके भीतर आध्यात्मिक ज्योति जलाना चाहते हैं । "सभी धर्मों को त्याग कर मुझ परमात्मा की शरण में आ, मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूंगा । तू शोक मत कर ।"[11] अर्जुन को शरणागतत्व के लिए आहूत करना, उसे पापों से मुक्त करने का आश्वासन देना, यह प्रकट करता है कि अर्जुन नैतिक धरातल की जीवन-शैली का त्याग करके ही (क्योंकि पाप-पुण्य का अपृथक्सिद्ध सम्बन्ध नैतिक जीवन से होता है) एक उच्च आध्यात्मिक स्तर पर जीने के लिये सन्नद्ध हो सकेगा । तब वह सतत यह अनुभव करेगा कि ईश्वर कर्त्ता है और मैं उसका उपकरण हूं । केवल तभी जगत् में लोभ, मोह, अमर्ष और आसक्ति आदि से उत्पन्न हुए संघर्ष समाप्त हो सकते हैं । गीता द्वारा प्रदत्त यह अपूर्व आध्यात्मिक दृष्टि मानवता के लिए परम कल्याणप्रद है, यह निस्संदिग्ध है ।

दर्शन विभाग,
गोरखपुर विश्वविद्यालय,
गोरखपुर (उत्तर प्रदेश) 273001,

---

9. वहीं, 18/63
10. Equivalence with God (Sadharmya) and not identity (Sayujya) is emphasized.
    Radhakrishnan, S., The Bhagavadgita, p. 76
11. सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
    अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।। 18.65

5

आत्मकथा, परकथा और भारतीय परम्परा

मुकुन्द लाठ

मुझे जब आत्मकथा पर कुछ कहने के लिये कहा गया तो मैंने यही समझा कि न्योता इस लिए मिला है कि मैंने हिन्दी की एक पुरानी, शायद सबसे पुरानी, आत्मकथा-बनारसीदास लिखित अर्द्धकथानक, पर कुछ काम किया है, और उसी में प्रसंगवश भारत में आत्मकथा के विषय में विचार जताये हैं।

मैं इस असमंजस में पड़ गया कि अब कहूंगा क्या? जो कहना था कह ही दिया है। पर एक सवाल मन में आया। आत्मकथा का तो स्पष्ट ही है आत्म से सम्बन्ध होना चाहिये, और अपने आप से बढ़कर आत्म कौन हो सकता है? क्या मुझे अपने में ही टटोल कर नहीं पूछना चाहिये कि अगर मैं आत्मकथा लिखूं तो कैसे लिखूं, कैसी लिखूं? लिखूं कि नहीं? नहीं तो क्यों नहीं? अब तक मैंने आत्मकथा के बारे में जो कुछ कहा है उसका मेरे अपने आत्म से कोई सम्बन्ध नहीं है— है भी तो बहुत दूर का है। ऐसा सम्बन्ध जैसा मेरा सब कुछ के साथ है, आकाशगंगा के साथ भी है, ऐसा सम्बन्ध जो किसी भी ज्ञाता-प्रमाता का, किसी जानने समझने वाले का अपने ज्ञान के विषय के साथ होता है।

प्रश्न उठता है: मेरा अपने आत्म के साथ क्या कोई विशेष "आत्मीय" सम्बन्ध है जो किसी अन्य विषय के साथ नहीं हो सकता? क्या मैं अपने आप को कुछ ऐसे जानता हूं जैसे मैं किसी और को जान ही नहीं सकता?

यह प्रश्न उठाना कुछ अजीब सा लगता है। क्योंकि मैं अपने साथ जब अपने आत्म के सम्बन्ध की बात करता हूं तो मुझे एक नहीं दो मिल जाते हैं—एक मैं और एक मेरा आत्म, एक मैं जो अभी बैठा अपने आत्म की चर्चा कर रहा हूं और एक मेरा आत्म। एक मैं तो वही है जो ज्ञाता-प्रमाता है, जानने समझने वाला है। दूसरा 'आत्म" क्या है जिसकी आत्मकथा होती है?

यहां एक पुराना रूपक शायद पूरा उतारा जा सकता है। एक ही डाल पर दो चिड़ियां हैं, दोनों साथ हैं, सखा हैं, अभिन्न हैं, एक भोगती है, झेलती है, एक उसको

देखती रहती है। आत्मकथा उस चिड़िया की होती है जो भोगती है, झेलती है, करती है। कथा कहने वाली चिड़िया दूसरी चिड़िया है जो देखती है, द्रष्टा है। पर यह देखने वाली चिड़िया, जो कि कथा कहती है, वह चिड़िया सांख्य के पुरुष की तरह विशुद्ध चैतन्य, अपरिणामी और इसी कारण अपरिवर्तनशील द्रष्टा नहीं है। दोनों चिड़ियां एक दूसरे से गुथी हुई हैं, दोनों परिणामी, परिवर्तनशील हैं। एक का परिवर्तन दूसरे पर प्रभाव डालता है। पर जो दूसरी देखने वाली चिड़िया है वह कुछ अलगाव रखती है, पहले को तोलती जांचती रहती है, उसमें विमर्श अधिक है, वह अपने साथ की चिड़िया को ही नहीं तोलती-जाँचती है, वह अपने चारों ओर के जगत् को भी तोलती, जांचती, जानती रहती है। वह जब पहली चिड़िया की कथा कहती है तो आत्मकथा होती है।

कैसे होती है यह कथा? दूसरी कथाओं से इसमें क्या अन्तर होता है? इसका अपना क्या विशेष स्वरूप है?

इन प्रश्नों के उत्तर में मैं आत्मकथा का लक्षण आंकने की चेष्टा करता हूँ। भारत में आत्मकथा न रही हो, लक्षण करने की परम्परा तो रही ही है। मैं आप के सामने संक्षेप में लक्षण के कुछ सूत्र रखता हूं, अव्याप्ति, अतिव्याप्ति के रन्ध्र आप जांचियेगा। लक्षण करने के बाद इस बात पर विचार करूंगा कि भारत में आत्मकथा का अभाव सा क्यों रहा है। उत्तर के कुछ द्वार लक्षण से खुलेंगे, ऐसा मुझे भरोसा है।

आत्मकथा के दो स्तम्भ हैं: आत्म और कथा। दोनों के बिना आत्मकथा नहीं बनती।

इसलिये केवल अपने अन्दर झांक कर अपनी चित्तवृत्तियों के प्रवाह का एक चित्र आंक देना, यह आत्मकथा नहीं होगी क्योंकि एक तो इसमें कथा नहीं होती, दूसरे आत्म भी कितना सामने आता है? अपना इतिवृत्त लिखते समय तक का इतिहास कहे बिना आत्मकथा नहीं हो सकती। इस इतिवृत्त में चित्तवृत्ति की भी भूमिका होती है पर चरित: करनी, कथनी और घटनाक्रमः के व्यूह में रहते हुए ही उस भूमिका का कोई अर्थ बनता है।

चरित की महिमा को मानें तो आत्मकथा में पर की भूमिका भी उतनी ही बड़ी रखनी होगी जितनी आत्म की। क्योंकि पर न हो तो चरित शब्द ही निरर्थक है। चरित पर के प्रति होता है। सच पूछें तो आत्म एक केन्द्र है जो दूसरों के साथ के सम्बन्धों से ही बनता है, दूसरे के बिना वह एक रीता सा, न कुछ सा हो जाता है। इन सम्बन्धों की कहानी इनके साथ उलझी हुई घटनावली का क्रम, विस्तार, चरित का पसारा, यही आत्मकथा है। इसलिए इसको आत्मचरित या आत्मवृत्त भी कहा जाता है। वेदान्त की शब्दावली में कहें तो आत्मकथा व्यवहार के आत्म की ही होती है, परमार्थ के आत्म की नहीं, और पर के बिना व्यवहार कैसा?

दूसरों के साथ के दो प्रकार के सम्बन्ध ऐसे हैं जो आत्म को कथा के प्रांगण में ला उतारते हैं। भावना और संकल्प के सम्बन्ध, या कहना अधिक उचित होगा कि भावना और

कर्म के सम्बन्ध। कर्म में संकल्प आ ही जाता है। इन्हीं के क्रम से, उतार चढ़ाव से, संघर्ष से, परिवर्तन-परिणाम से, इतिवृत्त बनता है, जो कथा का आधार होता है।

मैंने यहां जानबूझकर भावना और कर्म या संकल्प को ही कथा के लिये आवश्यक माना है। इसके बाहर भी ज्ञान, सृजन, भावना और अध्यात्म का विस्तार है जिनमें आत्म प्रयत्नशील होता है। पर ये हमें आत्मकथा के क्षेत्र से बाहर लगते हैं। इन्हीं बातों को लीजिए जो मैं अभी कर रहा हूँ। जो विचार, मीमांसा, मनन—कुछ भी कहिए—उसकी जो रूपरेखा, चलन, उपज आपके सामने रख रहा हूं वह मेरे आत्म का, मेरे जीवन का अभिन्न अंग है। हो सकता है इस तरह का चिन्तन-मनन मेरे लिये जीवन का सबसे बड़ा अंग हो। किन्तु शायद इसीलिये यह आत्मकथा नहीं है। क्योंकि ऐसी बातों से कथा नहीं बनती।

चिन्तन-मनन का एक अपना स्वतन्त्र जीवन, अपना स्वच्छंद सा अस्तित्व होता है जिसको मैं अपनी कथा से अलग कर सकता हूं। उसका सम्बन्ध ज्ञान, युक्ति-तर्क के जगत् से अधिक जुड़ता है, मेरी भावना और संकल्प से उतना नहीं।

चिन्तन या ज्ञान ही नहीं, यह बात कला और अध्यात्म के बारे में भी कही जा सकती है। अध्यात्म में तो जिस आत्म की तलाश होती है वह कर्म और भावना से ही नहीं, सब कुछ से ही अछूता, चिन्मात्र, संवित्-मात्र होता है, व्यवहार से सर्वथा परे। उसकी कथा का प्रश्न ही नहीं उठता। कहा जाता है कि उसकी मीमांसा भी संभव नहीं है। हम कह सकते हैं कि अध्यात्म की साधना भी हो ही सकती है। उत्तर में यही कहूगा कि साधक की कथा उसकी साधना के लिये बहिरंग सी होती है, साधना की गुहा के बाहर ही कथा को रुक जाना पड़ता है, अन्दर उसका प्रवेश संभव नहीं है। बाहर की हलचल को ही वह कूतती रहती है। फिर भी साधना की अंतरंग यात्रा का वर्णन शायद एक सीमा तक हो भी सकता है। पतंजलि के योगसूत्रों में उसकी एक रूपरेखा है, पर ऐसे वर्णन को हम कथा नहीं कह सकते, कहेंगे तो केवल लाक्षणिक अर्थ में ही।

साधना मार्ग के यात्री पर ही नहीं यह बात किसी लौकिक यात्री पर भी पूरी उतरती है। किसी अंतरिक्ष यात्री को लीजिए, यात्रा के पहले की सारी तैयारियों में जो भावना और कर्म का स्पन्द और संघर्ष होता है उसकी कथा बन सकती है। यात्रा शुरु हो जाये तो फिर यात्री अपने चारों ओर के नये जगत् के आकलन में, उसको जानने—समझने की चेष्टा में लगा जाता है, जिसको ज्ञान की चेष्टा कह सकते हैं। उस ज्ञान का वर्णन हो सकता है, उसका खण्डन-मण्डन हो सकता है, उसकी चर्चा हो सकती है, पर कथा नहीं। इसलिये अन्तरिक्ष यात्रा पर कोई कहानी-कथा बनानी हो तो उसमें नाटक का सा भाव लाना पड़ता है: दूसरे शब्दों में, उसमें कथा के गुणधर्म, भावना और कर्म के स्पष्ट संघर्ष का समावेश करना पड़ता है। आत्म के साथ पर को भी लाना पड़ता है।

एक बात और कहूंगा। हालांकि कथा के लिये भावना और कर्म दोनों का गुंथन आवश्यक होता है पर सच पूछा जाये तो भावना से कर्म का पलड़ा भारी पड़ता है। केवल

भावना की अभिव्यक्ति के लिये हम संगीत का या कविता का, या नृत्य का,सहारा ले सकते हैं, ज़रूरी नहीं कि कोई कहानी ही हो। पर कर्म के, चरित के बिना कथा नहीं बन सकती। और कर्म से अभिप्राय यहां मानव-परिस्थितियों में किये गये कर्म से है जिसमें आत्म और पर के सम्बन्ध का बड़ा स्थान रहता है; विशेषकर आत्म के अन्य आत्मों के साथ के सम्बन्धों का। इन्हीं के माध्यम से इन्हीं की अभिव्यक्ति से भावना प्रस्फुट की जाती है। भावना कर्म का अंग बन कर आती है।

कथा के इस लक्षण को ध्यान में रखते हुए अब मैं एक और प्रश्न का उत्तर ढूंढूंगा जो अक्सर उठाया जाता है : भारत में आत्मकथा क्यों नहीं रही?

अपने उत्तर पर आने से पहले एक पूर्व पक्ष की चर्चा करता हूं। पूर्वपक्ष की उत्थापना मैं सुधीर कक्कड़ के शब्दों से करूंगा, पर जिस मान्यता को उन्होंने शब्द दिये हैं वह काफी साधारण है। सुधीर कक्कड़ को प्रतिनिधि के रूप में इसलिये ले रहा हूं कि उन्होंने हाल ही में अपनी पुस्तक "शमन्स, डॉक्टर्स एण्ड मिस्टिक्स" की भूमिका में इस धारणा का प्रतिपादन किया है।

सुधीर कक्कड़ की बात को विस्तार से कहने की आवश्यकता नहीं है, वह पुरानी, जानी मानी सी बात है। दो सदियों से पश्चिम के विद्वान् कहते चले आ रहे हैं। 'भारत में आत्मकथा इसलिये नहीं रही कि भारत जिस आत्म की बात करता है उसकी कथा हो ही नहीं सकती। आत्मानं विद्धिः आत्मा को जानोः यह विधान ग्रीस और भारत दोनों संस्कृतियों का एक मूलमन्त्र रहा है। पर आत्मा का अर्थ दोनों के लिये भिन्न था। ग्रीस में आत्मा का अर्थ था कामना, संकल्प, भावना, बुद्धि आदि का आधार। इसलिये आत्मा को जानने का अर्थ था अपने भीतर झांकते हुए आत्मा के इन गुणों के स्वरूप को समझना, उनके स्वभाव की थाह लेना, उनके विस्तार के राजमार्गों पर, जनपथों पर, रथ्याओं पर घूम घूम कर उन्हें आंकना-उकेरना। इसलिये पश्चिम में मानव-संकल्प और भावना का सूक्ष्म चित्रण संभव हुआ है। वहां के मनीषी, वहां के कलाकार संकल्प और भावना की गलियों में घूम-घूम कर इनको टटोलते रहे हैं।

'एक और बात ध्यान में रखने की है। ग्रीस में यह भी विश्वास रहा है कि कामना, संकल्प, भावना, बुद्धि ये काल की सन्तान हैं, परिवर्तनशील हैं। इनको परखने के लिये इनके परिणामी स्वरूप का अवधान अनिवार्य है। इन्हीं परिवर्तनों की जब हम कहानी कहते हैं तो आत्मकथा हो जाती है।

'भारत में आत्मा को अकाल, अपरिणामी, निरंजन, निराकार, केवल, सच्चिदानन्द रूप माना जाता रहा है। उसके मानसिक गुण : कामना, संकल्प, भावना, बुद्धि सभी अवान्तर या गौण ही नहीं, वस्तुतः मिथ्या हैं, माया के प्रपंच हैं, उपाधि हैं, आवरण हैं। इनको परे हटा कर ही आत्मा का साक्षात्कार हो सकता है, इनके माध्यम से नहीं। हमारे यहां आदर्श चित्तवृत्ति के निरोध का था, चित्तवृत्ति के स्वरूप को समझने का नहीं; किन परिस्थितियों में ये कैसा काम करती हैं, इसको आंकने–कूतने का नहीं। आत्मा के जिस ध्रुव, अटल, अविकल स्वरूप की भारत में कल्पना-धारणा रही है ऐसे काल, परिणाम के बन्धन से अछूते

आ ऀ ा की कथा नहीं हो सकती ।

सुधीर कक्कड़ जिस तरह की बात कर रहे हैं वह आज आम सी हो गयी है : पश्चिम ऐसा है, भारत ऐसा है, यों कह कर हम दोनों पर एक अलग-अलग रंग का ठप्पा लगा देना चाहते हैं। दोनों की समृद्धि, बहुमुखी प्रवृत्तियों को एक-एक अलग सरल रेखा में बांध देना चाहते हैं, ऐसी रेखाओं में जो एक-दूसरे से बिल्कुल विमुख चलती हैं। दोनों की तुलना करने के प्रयास में जो गहरी उलझनें आती हैं उनसे हम यों किनारा कर लेना चाहते हैं।

ग्रीस की आत्म-विषयक धारणाओं को लीजिए।

सुकरात को हम ग्रीक दर्शन का गोमुख तो नहीं पर गंगोत्री तो कह ही सकते हैं। कहते हैं सुकरात की दर्शन-यात्रा का आरम्भ "आत्मानं विद्धि" इस मन्त्र की प्रेरणा से ही हुआ था। उनके और उनके प्रधान शिष्य प्लेटो के मत में आत्मा का स्वरूप आत्मा की उस धारणा से बहुत भिन्न नहीं था जिसको कक्कड़ ने "भारतीय" कहा है। उनके लिये आत्मा अविनश्वर है, ध्रुव है, अकाल, अपरिणामी, अविकारी है, शरीर और पार्थिव संसार के प्रवाह और परिवर्तन से परे है, निर्लिप्त है : आत्मा उन अच्युत, अटल, आदर्श, सत् स्वरूपों का द्रष्टा है जिनकी यह पार्थिव संसार धुंधली, दूर-की-धूसर छाया मात्र है। ऐसे आत्मा की कथा नहीं हो सकती। अरस्तू देहात्म–युगलवादी थे, आत्मा और शरीर को एक युगनद्ध, अयुतसिद्ध इकाई मानते थे। दोनों एक-दूसरे के बिना सिद्ध ही नहीं हो सकते। ऐसे आत्मा को निःसन्देह कथा की भूमिका में उतारा जा सकता है। पर भारत में भी ऐसे आत्मदर्शन का अभाव नहीं है जो आत्मकथा का आत्मा बन सकता हो। न्याय दर्शन के आत्मा को लीजिये। आत्मा वहां सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, ज्ञान का आश्रय है। वह कथा का पात्र हो ही सकता है।

न्याय दर्शन भारत में बड़ा सर्वतोव्यापी दर्शन रहा है। उसके प्रभाव को इसी बात से समझा जा सकता है कि सदियों तक उसके ज्ञान के बिना कोई सही अर्थ में पढ़ा–लिखा नहीं कहलाता था। जो उसको नहीं मानते थे वे भी उसकी भाषा अपना लेते थे, उसी की दार्शनिक शैली में बात करते थे। न्याय, और साथ में वैशेषिक, इन दोनों में ही नहीं, अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों, जैसे मीमांसा में, भी आत्मा की न्याय जैसी ही धारणा थी : आत्मा कर्ता और भोक्ता दोनों है, एक नहीं अनेक है, अन्य आत्माओं के साथ रहता है। आत्मकथाकार को और क्या चाहिये ? पश्चिम और भारत दोनों के ही बारे में सुधीर कक्कड़ का मत एकांगी है। सारे भारतीय चिन्तन पर एक ही मायावाद की छाप लगा देना जिज्ञासाहीन अज्ञान का लक्षण है।

तो फिर वही प्रश्न फिर से उठता है : भारत में आत्मकथा क्यों नहीं लिखी गई ? मैं समझता हूं—उत्तर हमारे यहां की आत्मा की धारणाओं में नहीं, कथा की धारणा और परम्परा में ढूंढना चाहिये। अलंकारशास्त्र के विधि-विधान, बन्धन, मर्यादाओं की शृंखला, इनमें हमको उत्तर के कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्र मिल सकते हैं।

कथा-विषयक अलंकारशास्त्र की परम्परा के मूल में हमारे यहां नाट्यशास्त्र है : समाज-विधान में जो स्थान मनु का है कथा-विधान में वही स्थान भरतमुनि का है। भरत ने बात नाट्य की की है पर यह स्वीकार किया जाता था कि काव्य मात्र का आदर्श नाट्य है। कवि, विशेषकर कथाकार, अपनी कथा को नाटक के ही सांचे में ढालकर सफल हो सकता है।

यह कहना तो ज़्यादती होगी कि भरत के शासन-विधान ने परवर्ती कथा-परम्परा की हर छोटी छोटी बात को मर्यादित किया और हर कथाकार की लेखनी पर सांकल डाल दी। पर फिर भी उनके कई विधान तो जैसे हमारी घुट्टी में घुल मिल गये और अब भी उनके संस्कार हममें काम करते हैं। भरत की दृष्टि हमारी आंखों में बस गई है; जहां कथा लिखने की बात आती है, चाहे आत्मकथा ही क्यों न हो, हम उन्हीं की दृष्टि से इतिवृत्त को देखते-आंकते हैं।

भरत नाट्य को अनुकृति कहते हैं, लोक की—बल्कि त्रिलोक की—अनुकृति। नाटक लोक को दृश्य रूप से हमारे सामने रखता है। सच पूछिये तो लोक से उनका तात्पर्य हिन्दी के "लोग" या "लोगों" से ही है। नाटक मनुष्यलोक की कहानी होती है, मनुष्य के सुख, दुःख, वासना, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न का इतिवृत्त, मनुष्य के एक-दूसरे से सम्बन्धों की कहानी। देवता की कहानी नहीं हो सकती, क्योंकि कहानी ऐसे ही प्राणी की बनती है जिसमें सुख, दुःख, वासना हो और जिसको अपनी इच्छापूर्ति के लिये प्रयत्न करना पड़े। इसलिये भरत कहते हैं कि देवता को नाटक में दिखाना हो तो उसे भी मनुष्यवत् ही दिखाना होगा और भारत देश में दिखाना होगा। यही कर्मभूमि है। यहीं लोगों को कुछ पाने के लिये कुछ करना पड़ता है। देवलोक में न सुख-दुःख होता है, न कार्यारम्भ, वहां के बारे में नाटक नहीं हो सकता, कहानी क्या होगी? (नाट्यशास्त्र, गायकवाड़ संस्करण, 18, 97–100)

पर नाटक मनुष्यलोक की अनुकृति होते हुए भी प्रतिबिम्बवत् अनुकृति नहीं है। नाटक की अनुकृति नाट्यधर्मी होती है। नाटक लोक को आधार बना कर एक अलग ही लोक की सृष्टि करता है। नाटक का यह लोक नाट्यधर्मी इस लिये कहलाता है क्योंकि यह लोक का एक विशेष प्रकार का रूपान्तरण होता है। नाट्यधर्मी रूपान्तरण के उद्देश्य होते हैं रस की निष्पत्ति और धर्म की शिक्षा। इनकी सिद्धि के लिये नाटक के कलेवर को एक विशेष सांचे में ढालना आवश्यक है जिसको हम औचित्य का सांचा या मर्यादा कह सकते हैं। लोक को यों का यों दिखा देने से ये दोनों उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकते।

रसनिष्पत्ति और धर्म-शिक्षा दोनों के लिये औचित्य की मांग एक नहीं थी। इनकी पूर्ति के लिये दो अलग लक्ष्मण-रेखायें बांधी गई थीं। उनके व्यूहवत् वलय ने एक ऐसी परिधि बना दी जिनके अन्दर रहना कथा लिखते समय हमारा स्वभाव सा बन गया।

भरत भाव-विशेष की एक परिणति-विशेष को रस कहते हैं। भरत के लिये रस एक नहीं अनेक हैं। भावों की संख्या रसों से भी अधिक है। पर कुछ ही भाव ऐसे हैं जो

परिणत हो कर रस बन सकते हैं। उनके नाम गिनाने की यहां ज़रुरत नहीं, हम सभी जानते हैं। पर एक बात ध्यान देने की है। कोई भाव अकेला रहकर रस में परिणत नहीं होता, वह चाहे कितना ही उपयुक्त क्यों न हो। अन्य भावों के साथ मिलकर ही (जिनको संचारी भाव कहा जाता है) उपयुक्त भाव विशेष (जिसको स्थायी भाव कहते हैं) रस की कोटि तक पहुंच पाता है। सच तो यह है कि संचारी के बिना स्थायी की कोई स्थिति नहीं। एक भाव अन्य भावों की अपेक्षा रखता है। स्थायी उसी भाव को कहते हैं जो अन्य भावों की सहायता से घनीभूत किया जा सके, जिसको रस की ओर ले जाया जा सके। भरत ने कुछ ही भावों को स्थायी माना था—आगे चलकर स्थायी भावों की संख्या बढ़ गई, संचारी भावों की भी, पर बात नहीं बदली। भरत में, और बाद के रस-चिन्तन में यह एक अटूट नियम बना रहा कि भाव विशेष के साथ कुछ ही अन्य भावों का तालमेल बैठता है, सबका नहीं। नाटककार या कथाकर जब किसी भाव को घनीभूत करना चाहे, उसे रस को कोटि तक पहुंचाना चाहे, तो उसे सावधान रहकर देखना होगा कि जिस भाव को वह स्थायी भाव मान रहा है उसके साथ किन संचारी भावों का तालमेल है, किनका नहीं। इस औचित्य का पालन नहीं करने पर स्थायी का स्थायित्व टूट जायेगा या बिखर जायेगा। अलंकारशास्त्र के किसी भी ग्रन्थ को देखिये, किस स्थायी के साथ कौन सा संचारी जाता है, कौन सा नहीं, इसकी तालिका मिल जायेगी। इस नियम को तोड़ने से रसाभास का भयंकर दोष हो जाता है।

नाटक या कथा की प्रस्तुति में इस बन्धन के अपवाद मिल जायेंगे पर उन अपवादों से परम्परा की मूल धारा नहीं बदली। सच बात तो यह है कि भावों को एक गिनती में बांध देना—(भरत में 49 भाव हैं— चाहे गिनती कुछ बढ़ा ही क्यों न दी जाये, जैसा बाद में हुआ) और उस गिनती को विधान मान लेना, अपने आप में साहित्य को कुण्ठित और संकुचित कर देता है। ऊपर से अगर यह नियम भी हो कि कौन सा भाव किस भाव से मेल खाता है, तब तो सीमा और घिरकर कटघरा सा बन जाती है।

भावों के तालमेल के औचित्य का ऐसा नियम बांधना स्वभावतः ही नाटक या कथा को वास्तव से हटा कर नाट्यधर्मी बना देता है।

जिस दूसरे औचित्य-बन्धन की हमने बात की : आचार-व्यवहार या धर्म का औचित्य: वह और भी वास्तव-विद्वेषी है। करनी, कथनी, मनुष्य से मनुष्य का पारस्परिक सम्बन्ध, यहां तक कि कौन क्या सोचता है इन सबका एक आदर्श था, जो धर्मशास्त्रों से, मर्यादा-ग्रन्थों से या परम्परा से लिया गया था। नाटक या कथा के पात्रों का इन आदर्शों की परिधि में ही विचरण कराया जाता था। इन आदर्शों का जाल जीवन की हर छोटी से छोटी बात को भी अपनी बांह में घेरे हुए था। पिता का पुत्र से, पति का पत्नी से, मां का बेटे से, बड़े का छोटे से, नीच का ऊंच से सम्बन्ध कैसा हो, इसकी मर्यादा थी; कौन क्या करे, कैसे करे, क्या सोचे, कैसे सोचे, क्या कहे, कैसे कहे, इसकी मर्यादा थी। वास्तव जीवन में मर्यादा का कितना पालन होता था यह बात और है। विश्वास करना कठिन है कि यह इस सीमा तक

होता था। पर नाटककार या कथाकार मर्यादा तोड़े तो रसभंग करने का दोषी हो जाता था। मैं नहीं कहूंगा कि लेखन के लम्बे इतिहास में मर्यादायें टूटी नहीं हैं, कुछ लेखकों ने तोड़ी हैं। लेखन की कुछ परिपाटियां भी ऐसी रही हैं जिनमें मर्यादाओं की खिल्ली उड़ाई गई है: जैसे भाण में। पर मूल धारा बनी रही है, आज भी हिन्दी-फिल्मों में देखी जा सकती है।

कहना नहीं होगा कि कथा लिखने में नाट्यधर्मों का ऐसा दोहरा औचित्य-प्रधान आदर्श कथा को यथार्थ से दूर ले जाता है। चरित्र चाहे काल्पनिक हो या वास्तव, चरित लिखने का आदर्श यही था। हर्षचरित को लीजिये। बाण यही दिखाने में लगे रहते हैं कि उनके चरितनायक ने ऐसा कुछ नहीं किया जो उसे नहीं करना चाहिये था। इसलिये बाण में जो बात उभर कर आती है वह उनका चरितनायक नहीं उनका काव्य है। संस्कृत में हर्ष-चरित जैसी वास्तव के जीते जागते चरितों की ओर भी कथायें हैं पर सभी में औचित्यप्राण चित्रण की चेष्टा है। जहां अन्य की कथा ऐसी नाट्यधर्मी हो वहां आत्मकथा की क्या गति होगी? इसलिए अपने बारे में कथा लिखने की परम्परा ही नहीं बनी। ऐसा नहीं कि लोग अपना परिचय नहीं देते थे: कौन है, कहां जन्मे, किस बंश में, ऐसी औपचारिक बातें खूब मिल जायेंगी। आत्म-शास्ति भी मिल जायेगी, पर आत्मचरित नहीं। कुछ आधे-अधूरे से प्रयास हैं, जैसे हर्षचरित्र में बाण का। पर बाण ने लगता है इसलिये थोड़ा सा ही कह कर मुंह पर लगाम लगा की क्योंकि उनकी कहानी आवारगी की कहानी थी, कथा की पारम्परिक लीक पर चलाई ही नहीं जा सकती थी।+ बाणभट्ट की आत्मकथा आज हज़ारी प्रसाद की लेखनी से सम्भव थी, तब नहीं।

किसी भी परम्परा में अपवाद मिल ही जाते हैं। बाण के छोटे से अपवाद से कहीं बढ़कर बनारसी का अर्धकथानक है। पर उसमें भी एक आधे-अधूरेपन का, एक खोखलेपन का बोध होता है। कथा की जिस परम्परा में बनारसी लिख रहे थे उनके पास ऐसा कोई आदर्श, ऐसी कोई सिद्ध कृति ही नहीं थी जिसको आधार बनाकर वे अपनी कहानी को और समृद्ध बनाते। बल्कि कथा कहने की धारा तो उलटी दिशा में बह रही थी। अचंभा नहीं कि बनारसी के बाद आधुनिक नाट्यधर्म-विरोधी परम्परा के आने तक हमारे यहां जो आत्म-कथा, या यों कहना चाहिये कि आत्मपरिचिति के टुकड़े लिखे गये वे अर्धकथानक से भी अधूरे हैं।

+ यहां अभिनव की एक बात प्रसंगवश कहता हूं। अभिनव कहते हैं कि नाटककार जब किसी राजा को चरितनायक बनाये तो उसे किसी प्राचीन पुराणसिद्ध राजा के आदर्श चरित को ही लेना चाहिए, वास्तव के राजा को नहीं, क्योंकि वास्तव के राजा का चरित आदर्श चरित नहीं होता। उसको नायक बनाने पर उसे आदर्श रूप में दिखाना पड़ेगा और बात बिगड़ जायेगी: किसी दर्शक को चरित की सच्चाई पर विश्वास नहीं होगा और उसके बिना उसके मन में रस का बोध नहीं जग पायेगा। सचमुच के राजा को आदर्श चरितनायक बनाना ऐसा होगा जैसे रावण को या योगनंद को आदर्श के रूप में खड़ा करना। — "तेन वर्तमानराजचरितं बावर्णनीयमेव, तत्र विपरीतंप्रसिद्धि–बाधयाध्यारोपस्याकिञ्चित्करत्वात् योगनन्दरावणादिविषयचरिताध्यारोप-वत्।"

देखिये नाट्यशास्त्र, 18, 12 पर अभिनव भारती
(गायकवाड़ संस्करण, खण्ड २ पृ. ४१३)

भारत में ही कथा कहने की एक और परम्परा भी है जहां नाट्य-परंपरा के धर्मों का बन्धन नहीं है, जहां धर्म के औचित्य को एक अनिवार्य बंधन नहीं मान लिया गया है, जहां धर्म क्या है इस प्रश्न को करनी और कथनी दोनों का संघर्ष दिखाते हुए महत् कथा में उतारा गया है। इस परम्परा का सबसे बड़ा ग्रन्थ है महाभारत : यों इसके छिटपुट निदर्शन अन्य पुराणों में भी मिल जाते हैं। पर कथा कहने की नाट्यधर्मी परम्परा हम पर इतनी हावी हुई कि उसने इस परम्परा को भी अपने रंग में रंग लिया। विडम्बना की बात है कि महाभारत के आख्यानकों को लेकर जो नाटक, चम्पू, चरित, महाकाव्य, कथायें लिखी गईं सबने महाभारत को भारतकथा की जगह भरतकथा बना दिया : नितान्त नाट्यधर्मी।

इतिहास विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर

6

जीवन-लोक, पावनता और भाष्यात्मक चिंतन*

जे० एल० मेहता

'लाइफ-वर्ल्ड' शब्द-युग्म की उद्भावना दार्शनिक एडमंड हुस्सर्ल की है। 'योरोपीय विज्ञानों का सकट' नामक उसकी अन्तिम कृति तक आते-आते हम देखते हैं कि, असन्दिग्ध आधार की जीवन-व्यापी खोज से जुड़े उसके चिंतन में क्रान्तिकारी परिवर्तन आ चुका था। निश्चय ही, अभी भी वह अपने उस पूर्व दृष्टिकोण को कसके थामे हुए है जिसके अनुसार, वह सब जो विषय की भाँति ज्ञात है—जैसे विज्ञान की दुनिया—उस अतिक्रामी अहं में मूलित होता है जोकि स्वयं अपने-आप में प्रदत्त विषय-जगत् का हिस्सा नहीं है। अन्तर जो पड़ा है वह यह है कि सद्यः रूप से प्रदत्त और प्रत्यक्ष अनुभव के विषय इस जगत् को अब वह वैज्ञानिक या वस्तुपरक ज्ञान की उन सैद्धान्तिक संरचनाओं की तुलना में हीनतर सत्य करके नहीं आंकता : उन सैद्धान्तिक सरचनाओं की तुलना में जिन्हें हम अपने प्रत्यक्ष जीवनानुभव के आधार पर ही निर्मित करते हैं। साक्षात् जिया जा रहा यह जगत् न केवल अपने-आप में सत्य है बल्कि यह समस्त सैद्धान्तिक निर्मितियों का पूर्ववर्त्ती है और इसके सत्य को अब हुस्सर्ल मात्र विषयपरक सत्य के पूर्वाभास की तरह नहीं देखता। उलटे, वह तो बुनियाद है, समस्त सद्धान्तिक निर्मिति के लिए अन्तिम प्रमाण-स्रोत—उस फ़लसफ़ाई ज्ञ न-प्रणाली के लिए भी प्रमाण-स्वरूप जिसका आविष्कार यूनानियों ने किया था और जिसे आज हम विज्ञान की दुनिया के रूप में जानते हैं। तो सिद्धान्त-पूर्व ही ग्राह्य, अनुभूत और जिये गए इस जीवन-जगत् की प्राथमिकता को स्कीकार करते हुए अपने जीवन की सन्ध्या में हुस्सर्ल ने इस बात

---

*प्रोफेसर जड़ाउलाल मेहता की पुस्तकः फिलोसोफी एण्ड रिलीजनः एस्सेज़ इन इर्टप्रिटेशन (प्र. भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली) में संकलित लेख-लाइफ वर्ल्ड्स, सेक्रैलिटी एण्ड इर्टप्रिटेटिव थिंकिंग का प्रोफेसर रमेशचन्द्र शाह कृत अनुवाद।

को अच्छी तरह देख लिया था कि 'फिनोमिनोलॉजी' का मुख्य कार्य इसी जीवन-जगत् के प्राग-नुभविक रूप का गहन अनुसंधान है। कि फिनोमिनोलॉजी का काम सिर्फ यह बताना नहीं है कि सैद्धान्तिक ज्ञान का ताना-बाना किस तरह इस दृश्य जगत् के आधार पर निर्मित किया गया, बल्कि यह भी, और मूलतः यही, कि कैसे यह जीवन जगत् स्वयं अतिक्रामी विषयिता के अनाम कृत्यों द्वारा रचा गया होगा। हमारे चतुर्दिक व्यापे हुए इस जगत् की अवधारणा, हुस्सर्ल के ही शब्दों में—"एक ऐसी अवधारणा है जो पूर्णतः और केवलमात्र हमारे मानसिक-आध्यात्मिक लोक में ही अवस्थित होती है। यही तथ्य—कि हम अपने विशिष्ट परिवेश में रहते हैं—उस परिवेश में जो हमारी समस्त चिंताओं और प्रयत्नों का आलम्बन है—यही एक ऐसे तथ्य की ओर इंगित करता है जो विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक लोक में ही घटित होता है। हमारा यह जीवन-लोक हमारे भीतर और हमारे ऐतिहासिक जीवन में एक आध्यात्मिक संरचना की तरह विद्यमान है।....इस चतुर्दिक व्याप्त विश्व की प्रकृति को आत्मा से इतर एक अजनबी की तरह देखना और इसीलिए मानवीय विज्ञान को तथाकथित शुद्ध विज्ञान बनाने के लिए उसे प्राकृतिक विज्ञान से पुष्ट करने का प्रयत्न करना बिल्कुल अर्थहीन और अनर्गल बात है।" हुस्सर्ल आगे लिखता है: "प्रत्येक राष्ट्र का एक अपना विश्व होता है, उसे अनुप्राणित करने वाले राष्ट्रोपरि आदर्शों से एकीकृत जीवन-प्रणाली का अपना विश्व; और उस विश्व को एकत्व भी वहीं से मिलता है। योरोपीय मनुष्य का विश्व हिन्दू या चीनी मनुष्य की अपनी राष्ट्रीय विशेषताओं से युक्त विश्व से सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार हमें चारों ओर से घेरे हुए यह विश्व पूरी तरह एक आध्यात्मिक अवधारणा है और सम्बन्धित प्रजाओं के इतिहास और परम्परा की एक विशिष्ट सरचना को प्रकट करता है। उन्हीं-उन्हीं लोगों द्वारा अपना यह जीवन-लोक स्वयं अपने भीतर से, स्वयं अपने भीतर ही रचा गया है।

"फिनोमीनोलॉजी' की आधारभूत और सार्वभौम समस्या को हुस्सर्ल अब इस जिज्ञासा के रूप में पहचानता है कि जीवन-लोक स्वयं किस प्रकार निर्मित होता है। अर्थात् जिज्ञासा का विषय अब विशिष्ट जीवन-लोकों का ऐतिहासिक प्रादुर्भाव और स्वरूप-वर्णन उतना नहीं है जितना यह कि जीवन-लोक मात्र निर्मित किस प्रकार होते हैं और किस तरह 'जीवन-लोक' के विज्ञान की नींव रक्खी जा सकती है। हुस्सर्ल इस जीवन-लोक के व्यवस्थित अध्ययन की संभावना को स्वीकार करता है... यानी, 'आनुभूतिक जगत् के रूप में लाइफ-वर्ल्ड' की 'ऑन्टोलोजी' की संभावना को। साथ ही, वह जगत् की अपरिवर्तनीय सरचनाओं के प्रति भी जिज्ञासु है हालांकि उसकी अपनी रुचि मुख्यतः इस जगत् के अतिक्रामी स्वरूप में है।

प्रत्यक्ष-संवेद्य विश्व की संरचना के प्रति जिज्ञासा से प्रेरित इस दार्शनिक अनुशासन के विकास में हुस्सर्ल और हाइडेगर के परस्पर प्रेरक-योगदानों को साफ-साफ अलगाना असंभव है। यह जिज्ञासा उस विश्व के प्रति जिज्ञासा है जो सैद्धान्तिक ज्ञान और विषय के द्वैत का भी पूर्ववर्ती है। यह विश्व मॉरिस मर्लो पोंती के शब्दों में "मेरे द्वारा जिया जा रहा संसार है; मेरे द्वारा विचारित संसार नहीं।" उसी के कथनानुसार **बींग एण्ड टाइम** पूरी तरह हुस्सर्ल के ही एक संकेत से पनपा है और अपने-आप में वह उस प्राक्-

तिक विश्व की अवधारणा, अर्थात् जीवन-लोक के ही प्रतिपादन से अधिक कुछ नहीं है जिसे हुस्सर्ल ने अपने जीवन के अन्तिम दिनों में फिनोमिनोलॉजी की केन्द्रीय विषय-वस्तु के रूप में पहचाना था।

जैसाकि हांस गेडामर ने भी कहा है, प्रश्न इसका उतना नहीं है कि किसने किसको और किस सीमा तक प्रभावित किया, क्योंकि दोनों एक-दूसरे के कृतित्व से अभिज्ञ थे, बल्कि समकालीन मानस में अन्तर्निहित उस प्रश्न के बारे में स्पष्ट होने का है जिसके सटीक उत्तर-स्वरूप ही 'लाइफ-वर्ल्ड' की अवधारणा सामने आई। तथ्य तो यही है कि जो बात हुस्सर्ल के यहाँ मात्र संकल्पना तक सीमित रही उसके व्यवस्थित ढंग से कार्य-रूप में परिणत होने की नौबत हाइडेग्गर के 'बींग ऐण्ड टाइम' में ही आई। इतना ज़रूर है कि यह काम हाइडेग्गर ने 'बींग' के अर्थ से सम्बद्ध स्वयं अपने प्रश्नों के परिप्रेक्ष्य में ही किया : बिना अतिक्रामी अहं के कारक माध्यम की परवाह किये, जैसाकि हम हुस्सर्ल के यहाँ देखते हैं। हाइडेग्गर के ग्रंथ में द ज़ाइन का सारा विश्लेषणात्मक विवेचन उसी 'जीवन-लोक' की सत्ताविषयक अन्वीक्षा प्रस्तुत करने के उद्देश्य से प्रेरित है जिसकी बात हुस्सर्ल ने की थी—बेशक. उपर्युक्त सीमाओं के अन्तर्गत ही। इस अवधारणा में जगत् विषयि-सत्ताओं का योगफल अथवा मनुष्य को प्रस्तुत वस्तु-जगत् ही नहीं है, उसी तरह जिस तरह मनुष्य भी ऐसी समग्रता में ही अवस्थित एक वस्तु मात्र नहीं है। जगत् यहाँ अर्थों का एक क्षितिज है जिसके भीतर हम निवास करते हैं; जगत् मनुष्य के संसार में होने, अर्थात् उसके अस्तित्व की संरचना का अंश है। यदि हम हाइडेग्गरकृत अर्न्स्ट कैसिरर के **फिलॉसफी ऑफ़ सिबॉलिक फॉर्म्स** की तथा कार्ल यास्पर्स के **फिलॉसफी ऑफ वर्ल्ड व्यूज़** की आलोचना को देखें तो हम पाएंगे कि हाइडेग्गर की आलोचना इन दृष्टियों की अपर्याप्तता का उद्घाटन करती है; और सार्त्रीय मानववाद की भी जो आलोचना उसने प्रस्तुत की, वह भी न केवल सभी प्रकार के अस्तित्ववादों से उसकी दूरी का पर्याप्त संकेत करती है बल्कि हम जिन्हें अपना जगत् कहते हैं उन अर्थ-'वतानों की भी समस्त मानव-केन्द्रित अवधारणाओं से उसका पार्थक्य स्पष्ट कर देती है।

यद्यपि हम हुस्सर्ल की 'ट्रांसेंडेंटल फिनोमिनोलाजी' की कुछ आधारभूत अन्तर्दृष्टियों की अनदेखी नहीं कर सकते, न हाइडेग्गर द्वारा आरम्भ से अत तक अपनाए गए चिंतन-पथ की ही, यहां हमारा प्रयोजन उन दर्शनशास्त्रीय और आलोचनात्मक हेतुओं की चर्चा करना नहीं है जिन्होंने इन विचारकों को प्रेरित किया। हमारा ध्येय तो यहाँ उस विधि की चर्चा करना है जिस विधि से धर्मतत्त्व जीवन-लोक में प्रवेश करता है, अर्थात् मनुष्य के जगत् में होने की प्रणाली में, याकि उसकी संस्कृति में—जैसाकि नृतत्त्वशास्त्री कहते हैं। दूसरे शब्दों में, समाजशास्त्रियों के लिए जो 'सामाजिक रूप से संरचित संसार' है, उसमें, अथवा विल्फ्रेड स्मिथ और मर्चा एलियाद जैसे धर्म-इतिहासवेत्ता जिसे 'अनिवार्यत: धार्मिक मनुष्य' कहते हैं उस आधुनिक मानव के जीवन में धर्म किस तरह प्रवेश करता है यही हमारी प्रस्तुत चिंता का विषय है। अपने इस असली विषय पर एकाग्र होने से पूर्व, अच्छा हो, यदि हम फिनो-मिनोलॉजी' की दिशा वाले दार्शनिकों पर भी एक नज़र डाल लें और देखलें कि वे इस बारे में क्या कहते हैं। जहाँ तक खुद हुस्सर्ल का सम्बन्ध है, उसकी चिंता तो मुख्यत: यही थी

कि इस जीवन-लोक में—मनुष्य के प्रातिभत: ज्ञात प्राकृतिक अनुभव में ही—–समस्त सैद्धान्तिक ज्ञान की पक्की नींव कैसे डाली जाय ? इतना तो वह पहचान ही चुका था कि 'जीवन-लोक' में 'मिथक' और ईश्वर में आस्था जैसी चीज़ें भी शामिल होती ही हैं; और परम्परा तथा ऐतिहासिकता भी उसकी चारित्रिक विशेषताएँ हैं। किंतु दो-एक चलताऊ संकेतों को छोड़ दें तो अन्यथा उसके लेखन में धार्मिक प्रश्नों का कोई चिह्न नहीं मिलता। उसकी एकमात्र अभिलाषा–या कहें उसका एकमात्र धर्म–'एक ईमानदार दार्शनिक' बनना ही था। सैद्धांतिक सत्य की खोज ही उसके लिए धार्मिक कर्त्तव्य की तरह थी। हालांकि उसने परम्परा को जीवन-लोक के संघटक की तरह स्वीकार किया किंतु इस परम्परा में भी उसका ध्यान केवल उसके ज्ञानात्मक पक्ष पर ही केंद्रित रहा—जो पक्ष, यूनानियों की अवधारणात्मक तार्किकता में मूलित है। इतना ही एकांगी दृष्टिकोण उसका दूसरे मामलों में भी झलकता है : परम्परा की संवाहक भाषा को लेकर और उस रचनात्मक क्रिया को लेकर भी जिसके अन्तर्गत भाष्य और अनुवाद की निरन्तर प्रक्रिया परम्परा को एकसूत्रता प्रदान करती है और उसके ऐतिहासिक आयाम का भी आकलन करती है। मुख्य प्रश्न जो यहाँ पर उठते हैं इस प्रकार हैं :—क्या यह संभव अथवा सार्थक है कि 'लाइफ-वर्ल्ड' को अतिक्रामी पृच्छा के ज़रिए प्रत्यक्ष सज्ञान में प्रदत्त रूप में अपचित कर दिया जाए ? दूसरे, अव्याख्यायित अनुभव के एक ऐसे आधार की खोज का क्या कोई मतलब है जो भाषा-तत्त्व से सर्वथा अछूती हो ? तीसरे, हम चाहे जितना भी पीछे जाएँ, क्या हम नहीं पाते कि भाषा पहले ही हमारे समस्त बोध और प्रातिभों में प्रविष्ट हो चुकी होती है? विल्हेल्म डिल्थे ने जीवन-लोक को साकार करने में इतिहास की भूमिका पर पर्याप्त प्रकाश डाला है और उसके निर्माण में भाष्य-लेखन की भूमिका को भी पहचाना है। अलावे इसके, हाइडेग्गर और मैक्स शीलर ने 'लाइफ-वर्ल्ड' के अन्तर्गत हमारे दैनिक जीवन के धार्मिक आयाम पर समुचित ध्यान एकाग्र किया है। **बींग एण्ड टाइम** से भी बहुत पहले अपने आरंभिक व्याख्यानों में भी हाइडेग्गर ने 'फिनोमिनोलॉजी' के असली कार्य की संकल्पना जिस रूप में की थी वह यही था : इस बात को समझना कि कैसे हमारा यह यथार्थ अनुभूत तथ्यात्मक जीवन अपने भीतर ऐसी गहराइयाँ छिपाए हुए है जिन्हें हमें इसी जीवन में निहित स्वतःस्फूर्त आत्म-व्याख्यात्मक क्रिया द्वारा उजागर करना चाहिए। उन गहराइयों को जो धार्मिक परम्परा के लिए सुलभ रही हैं किन्तु दर्शन की पहुँच से बाहर ही रही हैं। चिंतन का महत्त्वपूर्ण कार्य इसीलिए उन तमाम तार्किक आवरणों पर सवालिया निशान लगाना हो जाता है जिन्हें पश्चिमी फलसफा परम्परा ने यथार्थ में जिये जाते जीवन के ऊपर चढ़ा दिया है। कोई ऐसा रास्ता निकलना ही चाहिए कि परम्परागत 'ऑन्टोलॉजी' के इस संचित भार को अलग करते हुए हमारे वास्तविक मुक्तभोगी जीवन की व्याख्या नए सिरे से उस 'तथ्यात्मकता की भाष्य-विधि' द्वारा की जा सके जिसका संकेत हाइडेग्गर ने अपने स्वाधीन चिंतन की दीर्घ जीवन-यात्रा के आरंभिक चरणों में किया था। एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न, जो उसे उन दिनों उद्वेलित करता था, वह था कि मूल ईसाई जीवनानुभूति की प्रकृति क्या है;— उस पर किस प्रकार पिछले हज़ार बरसों में राशीभूत थियोलॉजिकल और फिलॉसॉफिकल अवधारणाओं के आवरण चढ़ चुके हैं ? किस

तरह यह जीवनानुभव जीवन की ऐतिहासिकता के उससे भी गहनतर अनुभव को अपने में समाहित किये हुए है जिसकी बात मानवीय ऐतिहासिकता के सबसे अग्रणी सिद्धान्तकार डिल्थे ने की है ?

'इंट्रोडक्शन टु दि फिनोमिनोलॉजी ऑव रिलीजन' नामक अपनी पहली व्याख्यान-माला में हाइडेग्गर ने उस तथ्यात्मक जीवनानुभव से जूझने का उपक्रम किया है जिसे सेण्ट पॉल के 'एपिसिल्स' में अभिव्यक्ति मिली है। अपने पहले पत्र में ही पॉल ईसा की वापसी की उम्मीद के बारे में बात करता है—उस उम्मीद के बारे में, जो ईसाई जीवन की आधार-शिला है, और ईश्वर के भविष्य के बारे में भी ("यह आवश्यक नहीं है, मेरे भाइयो—उस पुनःप्राकट्य के मुहूर्त के बारे में कुछ भी कहना; क्योंकि तुम जानते हो, भगवान् के प्राकट्य का मुहूर्त उतने ही चुपके से आएगा जैसे रात में तारे आते हैं") भविष्य का मुख्य गुण है—आकस्मिकता; और आकस्मिकता 'क्रोनोलॉजिकल' न होकर 'कैरोलॉजिकल' हुआ करती है। 'कैरोस' संकल्प रूपी छुरे की धार है—समय के सारे हिसाबी-किताबी नियंत्रण से परे' जीवन का वह पक्ष, जिसे सिर्फ जिया जा सकता है, जिसका विषयकरण असंभव है। वह ऐसी घटना नहीं है जिसे उसकी विषयसामग्री की शब्दावली में बयान किया जा सके। उसे तो केवल भविष्य की ओर एक गति के रूप में ही अनुभव किया जा सकता है—एक ऐसी गति, जो हमारे वश में नहीं है, जिसे हम घड़ी-घंटों के हिसाब से नहीं पकड़ सकते। तथ्यतः जिए जाने वाले जीवन की संरचना का सबसे प्रभावशाली पक्ष तो वास्तव में यही अनिर्वचनीय 'गति' ही है। इस प्रकार मूल ईसाई धार्मिकता हाइडेग्गर को जीवन के तथ्यात्मक अनुभव का वह नमूना पेश करती है जिसमें से वह तथ्यात्मक जीवन-संरचना की वे आधारभूत कोटियाँ निकालता है जो उसके महाग्रंथ 'बींग एण्ड टाइम' में अस्तित्व के विश्लेषण के रूप में आकार पाती हैं। कहने का तात्पर्य यह कि आरम्भिक ईसाइयत में जो जीवनानुभव की विशुद्धता थी उस पर बाद में मेटाफिज़िकल अवधारणाओं के आवरण इस कदर अध्यारोपित होते गए कि वह विशुद्ध जीवनानुभव एक तरह से झुठला सा गया। कुछ जगह, जैसे ऑगस्टीन में, मध्यकालीन रहस्यदर्शियों लूथर तथा कीर्केगार्द में हाइडेग्गर को जिये गए अनुभव की यथा-तथ्यता को पुनरुपलब्ध करने के प्रत्यन दीखे किन्तु उसने यह भी लक्ष्य किया कि ऐसे हर प्रयत्न की राह में वे असंगत मेटाफिज़िकल अवधारणाएं रोड़े अटकाती रही हैं। 'ऑगुस्टीन और नियोप्लेटोनिज़्म' शीर्षक अपनी व्याख्यानमाला में हाइडेग्गर ने कन्फेशन्स के दसवें अध्याय का पुनरीक्षण किया और यह दिखलाया कि किस तरह जीवनानुभव की यथातथ्यता में जड़ें रोपे होने के बावजूद ऑगस्टीन का चिंतन नियोप्लेटॉनिज़्म से आयातित अवधारणाओं के मिश्रण के कारण अपने लक्ष्य से भटक गया है। मूल अनुभूति तक पहुँचने के लिए इसी कारण पहले यह अनिवार्य है कि हम उन अवधारणात्मक अध्यारोपों की इमारत को गिरादें और तब उस अनुभव की व्याख्या मानवीय जीवन-लोक के एक सार्वभौम घटक के रूप में करें। दर्शनशास्त्रीय अवधारणा वास्तविक जीवनानुभूति के समकक्ष या पर्याप्त नहीं हुआ करती क्योंकि वास्तविक जीवनानुभव में जो बात महत्त्व की है वह उसकी विषय-सामग्री (यानी 'क्या')उतनी नहीं है। महत्त्व की बात है वह जीवन-भोग जिसका 'विषयकरण' नहीं

किया जा सकता : जीवन की वह हलचल; वह अस्थिरता, जो सारतः एक प्रक्रिया या घटना है। दूसरे शब्दों में, समय में घटित होने वाली कोई चीज़ नहीं बल्कि स्वयं समय-तत्त्व। न केवल जीत संसार का घटनात्मक विचरित्र, बल्कि ईश्वर, सत्य और जगत् भी इस ग्राह्य, तथ्यात्मक जीवनानुभव के अन्तर्गत ही अपने मूल चरित्र में अनुभूत होते हैं। तत्त्वमीमांसात्मक चिंतन—चूंकि वह जो कुछ भी हमारे सम्मुख साक्षात् उपस्थित और जीवन्त है उसे अवधारणों में स्थिर और जड़ कर देने वाली प्रक्रिया है—अतः वह स्पंदनशील जीवन के हमारे संवेदन को झुठला सकता है या विद्रूप कर दे सकता है।

हमारे इस जगत् में होने का दूसरा अ–विषयकरणीय पक्ष इसमें निहित है कि हम जीवन को कैसे जीते हैं, हमारी सम्पूर्ण भावना कैसी है, अर्थात् चीज़ों के साथ वह समस्वरता जो जीवन-लोक में हमारे सब कुछ को अनुभव करने के ढंग को निर्धारित करती है। मैक्स शेलर ने हमारी अनुभूति के इस भाव-पक्ष पर ख़ासा ज़ोर दिया था और लज्जा, सहानुभूति, राग-द्वेष इत्यादि भावों का परीक्षण करके दर्शाया था कि कैसे हमारा ज्ञानात्मक जीवन ही स्वयं इन भाव-दशाओं में मूलित होता है। 'बींग ऐण्ड टाइम' में हाइडेग्गर ने व्यवस्थित ढंग से इसकी जाँच की, कि किस प्रकार हमारे जगत् में होने का ढंग हमारी आधारभूत आत्म-संगति ('एट्यूनमेंट') से निर्धारित होता है–जैसे कि दुश्चिंता या शंका और सुनिश्चय या विस्मय, या सुरक्षा और शान्ति से। ये सारे भाव हमारे भीतर चलती रहने वाली विशेष मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के रूप में अभिप्रेत नहीं हैं बल्कि वास्तव में अनुभूत विविध भावों की संभावना की सत्ताविषयक प्रतिज्ञाओं के रूप में ग्राह्य हैं। साथ ही, यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि ये आधारभूत भावात्मक उन्मुखताएं मानव-जाति के सामूहिक जीवन में युग-युगानुसार बदलती रहती हैं। इस बात को हाइडेग्गर ने पश्चिम के ऐतिहासिक जीवन को उदाहृत करते हुए दर्शाया भी है। 'बींग ऐण्ड टाइम' के उस प्रकरण में जो 'चिंता' के बारे में है, हाइडेग्गर एक दृष्टांत देता है—'क्यूरा' नामक प्राचीन लैटिन बोध-कथा का। यह दृष्टान्त एक प्राक्-सैद्धांतिक बोध की साहित्यिक अभिव्यक्ति का है। इस तरह का साक्ष्य मनुष्य-जाति की सभी धार्मिक परंपराओं में प्रचुर मात्रा में पाया जाता है और जीवन-लोक को आकार देने वाली परंपराओं के सम्यक् ज्ञान के लिए तर्क-प्रसूत सिद्धान्तों से हज़ार गुना अधिक मूल्यवान् है। निश्चय ही ये दंतकथाएँ और पौराणिक आख्यान कई तरह की व्याख्याओं को भी आमंत्रित करते हैं। ये रचनात्मक–व्याख्यात्मक प्रयत्न उस जीवन-लोक की सही समझ के लिए तो ज़रूरी हैं ही जिससे ये कथाएं उपजी होंगी साथ ही, सामान्य मानवीय जीवन-संसार के साक्षात् के लिए भी उनका महत्त्व है। इस साक्षात्कार का मार्ग जिस प्रक्रिया से होकर गुजरता है वह अवधारणात्मक अध्यारोपों को अलगाने तथा उनसे जुड़ी सत्तामीमांसात्मक व्याख्या को ध्वस्त करने के बाद नए सिरे से नए परिप्रेक्ष्य में उन कथाओं की व्याख्या करने की चुनौती से होकर गुजरता है। यह परिप्रेक्ष्य वही होगा जो हमारी वर्त्तमान परिस्थिति में हमारे लिए संभव है। काफी दूर तक वह हमारी अपनी साहित्यिक-धार्मिक परम्परा से निर्धारित होगा और इसलिए यह काम फिर भी बाकी रह जाएगा कि हम इन परिप्रेक्ष्यों को साथ लाएँ और एक अधिक गहरे सत्तामीमांसात्मक स्तर तक खुदाई

करते हुए मानवीय जीवन-लोक की ग्राधार-संरचना की खोज का लक्ष्य सामने रक्खें। इससे यह परिणाम निकलता है कि विभिन्न धार्मिक परंपराग्रों के जीवन-संसारों के बीच तुलना करने का काम, ग्रौर फिर एक ही सर्वाश्लेषी–सर्वव्यापी जीवन-लोक की खोज का काम—यदि सचमुच सफल होता है तो उसे अवधारणात्मक निर्धारण के स्तर पर किसी भी हालत में शुद्ध नहीं होना चाहिए। उस स्तर पर तो भेदों का ही प्राबल्य मिलेगा। मिथक, दंतकथा ग्रौर प्रतीकों के प्राग्-ग्रवधारणात्मक स्तर पर ही ऐसी खोज का ग्रारंभ करना फलप्रद होगा। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए हमारे पास व्याख्या ग्रौर रचना ही एकमात्र उपकरण हैं। किन्तु इन उपकरणों के सही इस्तेमाल के लिए—जोकि मात्र उपकरण न होकर हमारे मानवीय जीवन-लोक की सत्ता के ही संघटक और कारक हैं–यह अत्यावश्यक है कि हम एक ऐसे व्यापक सूत्र तक पहुँचने के लिए प्रस्तुत होंजो सबको स्वीकार्य हो सके, यानी ऐसा सूत्र जिसमें हम सब भागीदार बन सकें। ग्रारम्भ तो हम केवल ईसाई, हिन्दू ग्रौर चीनी जीवन-लोकों के विवेचन से ही कर सकते हैं। धार्मिक प्राणी होने के नाते क्या यह ग्रभीष्ट न होगा कि हम एक ऐसे सर्वनिष्ठ जीवन-जगत् की ग्रभीप्सा करें जिसकी विविध विशिष्ट ग्रभिव्यक्तियों के उदाहरणस्वरूप उपर्युक्त जीवन–लोक दिखाए जा सकें और जिसके भीतर से ये सब निकाले जा सकें? मैं समझता हूँ ऐसा प्रयत्न सार्थक है क्योंकि हम सभी मानव-प्राणी हैं, और इस लिए भी कि हम सभी बोलने-बतियाने वाले जीव हैं जो कि न केवल एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद कर सकने में समर्थ हैं बल्कि ग्रनिवार्यतः सारे समय यही करते रहते भी हैं। हाँ, यह भरोसा मुझे नहीं है कि यह कोई ऐसा काम है जिसे यहाँ ग्रौर अभी हमेशा-हमेशा के लिए करके छुट्टी पा ली जा सकती है। जैसाकि सभी प्रकार के वार्तालाप में होता है, कुछ न कुछ तो सदैव ग्रनकहा छूट ही जाता है, और चूंकि हम सभी सीमाबद्ध प्राणी हैं, यह प्रयत्न किसी भी क्षण समाप्त नहीं हो सकता। वह तो एक निरन्तर जारी रहने वाला ग्रभियान ही हो सकता है: सदा ही अपर्याप्त ग्रौर कभी भी पूर्णाहुति तक न पहुँचने वाला। इस लिए कि जीवन एक उड़ते हुए पक्षी के समान है जिसकी उड़ान को—जब तक पक्षी उड़ता रहता है—कभी भी विषयकृत नहीं किया जा सकता। न ही उससे एक ऐसे कर्त्तव्य की तरह निपटा जा सकता है जिसे बस अब कर ही डालना है।

'बींग ऐण्ड टाइम' लिख चुकने के एक बरस पहले ही हाइडेगर को यह बात ग्रच्छी तरह समझ में ग्रा गई थी कि तत्त्वमीमांसा की जमी हुई परतों को हटा कर जीवनानुभूति के तल तक पहुंचना ग्रौर फिर उस तल का उद्घाटन करना कोई आसान काम नहीं है। इस काम के लिए एक ऐसी प्राक्-अवधारण प्रक्रिया पर ग्राधारित व्याख्या ग्रौर निर्माण ग्रपेक्षित है जिसे ग्रन्तर्ज्ञान से सिद्ध या सत्यापित नहीं किया जा सकता और इसीलिए वह एक ऐसी चक्राकार विधि की माँग करता है जिसे वह भाष्य-चक्र (हर्मेन्यूटिकल सर्किल) का नाम देता है। 'ग्रस्तित्व' के अपने विश्लेषणात्मक विवेचन के प्रारम्भ में ही उसने लोक ('वर्ल्ड') मात्र के विचार को क्रियान्वित करने की केंद्रीय कठिनाई पर उंगली रख दी है। वह कहता है:—

"ग्राज की तारीख में हमें संसार की सुदूर ग्रौर विविध संस्कृतियों तथा जीवन-रूपों की बड़ी समृद्ध जानकारी सुलभ है ग्रौर इस कारण हमें लगता है कि यह समय जगत् की

प्राकृतिक अवधारणा तक सफलतापूर्वक पहुँचने के लिए बहुत अनुकूल है। मगर यह महज़ एक प्रतीति ही है। गहरे जाने पर पता चलेगा कि जानकारियों का यह अम्बार हमें असली समस्या की पहचान से ही भटका दे सकता है।"

वह असली समस्या क्या है? वह है : 'लोक' या 'जगत्' के विचार का स्पष्टीकरण। 'बींग ऐण्ड टाइम' के सबसे ज़ोरदार प्रकरण वे हैं जिनमें हाइडेग्गर ने 'समझ' और 'व्याख्या' का विवेचन किया है। इन अध्यायों की मूल्यवत्ता जीवन-जगत् के धार्मिक पक्ष की समस्या से जूझने में है। मनुष्य, हाइडेग्गर के कथनानुसार, एक 'प्रोजेक्ट' है। वह सदैव एक ऐसे संसार में जन्म लेता है जो पहले से अर्थवान् है; अर्थात् वह अर्थों के एक समूचे वितान में अवतरित होता है। वह एक-साथ इस अर्थ-वितान को जानने की अभीप्सा से भी प्रेरित होता है और अपने को जानने की उत्कण्ठा से भी। दोनों काम वह प्राक्-अवधारणात्मक समझ की अपनी कार्य-योजनाओं (प्रोजेक्ट्स) के बल-बूते पर ही करना चाहता है। इस प्रकार इस जीवन-लोक में उसका होना मात्र स्वभावतः भाष्यात्मक (हर्मेन्यूटिकल) है। हम सदा ही एक गतिशील परम्परा के भीतर अवतरित होते हैं और उसे खुद अपनी समझ की कार्य-योजनाओं के बूते हृदयंगम करना चाहते हैं। समझ की ये कार्य-योजनाएँ उस परम्परा में भी उतनी ही अन्तर्निहित और मूलित हुआ करती हैं जितनी कि वे उस परम्परा को समझने के प्रयत्न में स्वयं उसे प्रभावित करती हैं। परम्परा इसलिए स्वयं भी प्रभावित होती है कि हमें उसे समझने के लिए अपनी वर्तमान जीवन-स्थिति की शब्दावली में अनूदित करना होता है। दरअसल हाइडेग्गर के चिंतन के इसी पक्ष को हांस गेडामर ने 'फ़िलॉसॉफ़िकल हर्मेन्यूटिक्स' पर आयोजित अपनी विशाल कृति में पल्लवित किया है और जो मेरी समझ से विभिन्न जीवन-लोकों के धार्मिक आयाम के परीक्षण हेतु केन्द्रीय महत्त्व का कार्य है : स्वयं हमारे जीवन-लोक के संदर्भ में भी। यहाँ पर पॉल रिकोर की कृति भी उल्लेखनीय होगी : ईसाई पश्चिमी परंपरा के संदर्भ में।

अच्छा हो यदि मैं इस सारी बात को आत्मकथा की शब्दावली में समझने और इस तरह अपने विवेचन को सगुण-साकार करने की कोशिश करूं। मैं एक ऐसे देश में जन्मा और पला-बढ़ा हूं जो अभी हाल तक ऐसी अनेक सभ्यताओं के बीच एक प्रमुख सभ्यता का वाहक था, जिनमें से प्रत्येक में धर्म किसी न किसी रूप में समग्र जीवन को व्यवस्थित करने और अर्थ प्रदान करने वाला केन्द्रीय नियामक तत्त्व था। मैं एक जाति विशेष और उपजाति विशष में जन्मा और एक ऐसे जीवन-लोक के भीतर पला, जो उक्त प्रकार की संस्कार-नियति से निर्धारित था। किंतु, साथ ही मैं समय के एक विशिष्ट बिन्दु पर भी उत्पन्न हुआ था—अपनी सभ्यता, संस्कृति और धार्मिकता के ऐतिहासिक विकास के एक ऐसे विशिष्ट क्षण में जबकि एक विजातीय सभ्यता, यानी पाश्चात्य, सभ्यता के साथ टकराहट की प्रक्रिया कोई सौ साल तक पूरे वेग से चल चुकी थी। अंग्रेज़ी शिक्षा-दीक्षा के ज़रिए मैं एक तरफ़ तो अपनी धार्मिक विरासत की अधिकाधिक स्पष्ट होती समझ की ओर बढ़ने लगा—वह विरासत जो न केवल विविध सामाजिक और वैयक्तिक रीति-नीतियों को अपने भीतर समाए

हुए थी. बल्कि उस भाषा को भी जिसमें वे रीति-नीतियां अपना सगुण-साकार रूप पा सकी थीं। दूसरी तरफ़ मैं विचार और भाव-बोध की उस सारी सम्पदा को, तथा आधुनिकता के उन मानदंडों को भी जाने-अनजाने स्वायत्त करता जा रहा था जिन्हें अंग्रेज़ी भाषा ने मेरे लिए सुलभ किया था। इस तरह मेरे बोध-संवेदन के दायरे में दो नितान्त भिन्न जीवन-लोक एक-दूसरे के निकट आ रहे थे और एक तरह के सह-अस्तित्व की स्थिति में परस्पर अन्त-क्रिया कर रहे थे। मैं अपने जीवन के उस चरण पर अवधारणात्मक ढंग से सोचने-विचारने योग्य नहीं था। बात कुछ ऐसी थी कि जैसे मैं अपनी समझ की प्राग्-अवधारणात्मक चेष्टाओं के द्वारा दो-दो परम्पराओं को एक-साथ स्वायत्त कर रहा हूँ: एक तो स्वयं मेरी जन्मसिद्ध परम्परा और दूसरी एक अजनबी, विजातीय परम्परा। जहाँ तक संभव था मैं अवधारणा के धरातल पर इन दोनों की टकराहट से बचते हुए दोनों को ही जज़्ब करने की समानान्तर प्रक्रिया को निर्विघ्न चलने दे रहा था। कुछ तो मेरी औरों से किसी क़दर अलग प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा के फलस्वरूप और कुछ अपने जातिगत संस्कार-नैष्ठिक ब्राह्मण-परिवार में लालन-पालन के कारण मैं इस्लाम अथवा ईसाइयत के सीधे सम्पर्क में नहीं आया। ईसाई दुनिया की जितनी और जो कुछ भी छाप मैंने अनजाने ग्रहण की होगी अपने स्कूल-कालेज के दिनों में, वह उसके लौकिकीकृत रूपाकारों के ज़रिए ही ग्रहण की होगी : मुख्यतः तो अंग्रेज़ी साहित्य के माध्यम से, और काफी कुछ प्रचलित शिक्षा-पद्धति के कारण।

पहले-पहल ये दोनों जीवन-लोक मुझे सीधे सबोधित करते जान पड़ते थे। दोनों ही मेरे लिए विधिसम्मत थे और मैं दोनों के साथ सहज अनुभव करता था—बिना इसकी ज़्यादा परवाह किये कि किस तरह दोनों एक=दूसरे को बड़े बारीक ढंगों से प्रभावित करते जा रहे हैं। मैं तो समझ लीजिए बस, एक ऐसे दुहरे जीवन-लोक को जीने की प्रक्रिया से गुज़र रहा था जो दुहरा होने पर भी एक परस्पर-गुंफित सम्पूर्ण बनता था—बटी हुई रस्सी की तरह। यह तो बहुत बाद में हुआ कि मैंने अवधारणात्मक ढंग से सोचना शुरु किया और, जिस तरह के संसार में आज हममें से बहुत से भारतीय रह रहे हैं, उसके ऐतिहासिक प्रादुर्भाव के बारे में विचारना-सीखना आरम्भ किया। आज तो इस दुहरे संसार का जो पश्चिमी भाग है वह भारतीय जीवन-लोक का एक अभिन्न, कहना चाहिए प्रमुख, अंग बन चुका है। इस पश्चिमी घटक के अन्तर्गत ईसाइयत तो अपने अनेकमुखी लौकिकीकृत रूपाकारों में शामिल है ही साथ में यूनानी बौद्धिक-वैज्ञानिक दृष्टि भी शामिल है।हमारे यह कहने का तात्पर्य इस तथ्य को नकारना नहीं है कि ऐसे अनेक व्यक्ति और समूह भी विद्यमान हैं जो आस्था-प्रवण ईसाई, मुसलमान अथवा हिन्दू हैं और जिनका निजी जीवन-लोक आज भी उनकी धार्मिक परम्परा से ही प्रकाशित है। ऐसे व्यक्ति और समूह निश्चय ही विद्यमान हैं। किन्तु यह भी उतना ही सच है कि इनमें से किसी के भी पास अब एक विश्व-निर्माण, विश्व-संघटन कारी (धर्म-संस्थापक) शक्ति नहीं है। जहाँ तक हिन्दू बुद्धिजीवी का सम्बन्ध है, जिसने कि पिछली अर्द्ध-शताब्दी के भीतर अपने परम्परागत जीवन-संसार में न केवल एक भूकंपीय उथल-पुथल देखी और भुगती है बल्कि जो इस व्यापक परिवर्तन के बारे में प्रश्न उठाने को भी तैयार है—उसे तो अभी भी ऐसी बहुत सारी चीज़ों की जीवन्त स्मृति बनी हुई है जिनके

तिरस्कार अथवा विस्मरण की घटना उसके लिए अभी कल की बात है। एक आधुनिक की हैसियत से अब उसके पास करने को और कौन सा कार्य बचा है, सिवा इसके कि वह अपनी परम्परा के पवित्र स्रोतों तक वापस लौटे—तीर्थयात्री की तरह, और उनके सृजनात्मक पुनर्भाष्य में प्रवृत्त हो ताकि वे पवित्र ग्रंथ, वे आदि—स्रोत, उसके इस वंचित वर्तमान के बीचोबीच उससे अर्थवान् ढंग से बोलने लगें। उसे उन्हें बुलवाना ही है: उनसे नई जीवनी शक्ति प्राप्त करने के लिए। इस कार्य की सिद्धि के लिए एक ओर भाषिक निर्माण की प्रक्रिया चाहिए तो दूसरी ओर विसर्जन की प्रक्रिया भी, यानी आज के आलोचनात्मक मुहावरे में परम्परा के 'डिकांस्ट्रक्शन' की प्रक्रिया, ताकि परम्परा के जीवन्त सत्य का स्वाधीन स्वायत्तीकरण संभव हो सके।

संचित परम्परा के भारी बोझ से मुक्ति पाकर यदि कोई उसे वास्तविक सृजनात्मक शक्ति में परिणत करना चाहता है और उस अर्थ को सुनने की स्वतंत्रता उपलब्ध करना चाहता है जिस अर्थ को वह श्रुति-परम्परा अब भी उस तक संप्रेषित कर सकती है—तो उस जीवनदायी श्रवण के तीन ही उपाय हैं: कवित्व, दार्शनिक चिंतन और धार्मिक ध्यान-योग। भारत का जीवन-लोक सदैव धार्मिक दृष्टि से बहुवचनवादी रहा है और ऐसे बहुत्व की स्वीकृति उसकी समूची संरचना की ही विशिष्टता रही है। किन्तु न तो भारत में, और न कहीं अन्यत्र ही, धार्मिक बहुवचनवाद का मतलब विविध धार्मिक जीवन-संसारों के बीच संवाद का अभाव रहा है, भले ही ऐसे संवाद की प्रकृति अलग-अलग जगहों पर शैली रीति-नीति और अन्तर्क्रिया की दृष्टि से एक सी नहीं हो सकती हो। हमारे भारतवर्ष का लगभग प्रत्येक धार्मिक और दार्शनिक ग्रंथ ऐसे ही संवाद से उत्पन्न गतिशीलता और सर्जनात्मकता का प्रमाण देता है, और उस ऐतिहासिक आत्म-चेतना का भी, जिसका यहाँ कभी भी, किसी भी युग में अभाव नहीं रहा। तो, हमें अपने प्रत्येक गौरव-ग्रंथ को इसी रूप में देखना होगा: एक निश्चित ऐतिहासिक परिस्थिति के प्रति पूर्णतः सचेत और सुविचारित प्रतिक्रिया के रूप में, और अपने-आप में भविष्य के परिप्रेक्ष्य में दिये गए ऐतिहासिक प्रत्युत्तर के रूप में भी। मेरा जीवन-संसार आज एक ओर तो मेरी उस बिरादरी के संस्कारपुंज से पूरी तरह निर्मित—निर्धारित नहीं है जिसमें कि मैं जनमा और पला-पुसा, यद्यपि मेरी सत्ता के अन्तरतम में उसका अ-विषयकरणीय अवशेष पूरे जतन के साथ सँजोई हुई निधि की तरह विद्यमान है। और दूसरी ओर, मैं इस तथ्य को भी नहीं भुला सकता कि मैं आज के हिन्दुस्तान के जीवन-संसार का भी भागीदार हूँ; और इसके अलावा, इससे परे, पश्चिमी प्रविधि की उस विश्व—व्यापी घटना का भी जिसने अब समूची दुनिया को ही अपनी लपेट में ले लिया है: हाइडेगरी मुहावरे के 'वर्ल्ड सिविलाइजेशन' की शक्ल में। ऐसी परिस्थिति में, अब मेरे लिए करने को बचता ही क्या है सिवा इसके कि मैं पावनता (सैक्रेलिटी) के अवशिष्ट पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए एक ऐसी भाषा पाने का प्रयत्न करूँ जिसमें वे चिह्न और वह आदि स्रोत आज अर्थोन्मेषक ढंग से मुखर हो सके! प्रश्न यहाँ मेरी निजी धार्मिकता या श्रद्धा-भावना का नहीं है बल्कि सबके साथ बाँटी जा सकने वाली, व्यापक साझेदारी की भाषा में अलौकिक-धार्मिक अर्थों के निर्वचन का है: उन धर्म-सजीव अर्थों का जो आज के मान-

वीय जीवन-संसार में समझे और स्वायत्त किये जा सकें :

धर्म की वर्तमान अवस्था उस प्रक्रिया से प्रभावित है जिसे लौकिकीकरण (सेकुलराइजेशन) का नाम दिया जाता है। इस बारे में क्या इतिहासज्ञ, क्या दार्शनिक, क्या सामाजिक और धार्मिक विचारक, सभी लगभग एकमत हैं कि मानवीय इतिहास में यह एक अभूतपूर्व घटना है और इसका उत्स तथा प्रस्फुटन यहूदी-ईसाई परम्पराओं में देखा जा सकता है। व्यक्तियों तथा समूहों में किसी न किसी रूप में धार्मिकता की उपस्थिति के बावजूद, और कभी-कभार इस उपस्थिति की उग्र और आक्रामक अभिव्यक्ति के बावजूद, तथ्य यही है कि मनुष्य-जाति आज एक निष्प्रभ-दैवी दीप्तिविहीन संसार में रह रही है और धर्म अब वह केंद्रीय, सबसे जोड़ने वाला और ऐतिहासिक रूप से प्रभावशाली शक्ति नहीं रह गया है जिसने अतीत में संसार की सभी प्रमुख सभ्यताओं को खड़ा किया था और एकजुट रक्खा था। जैसाकि ऊपर कहा गया, निजी धर्मजीवन अब धर्म की पुरातन-परम्परागत भूमिका का निर्वाह नहीं कर सकता—सबके लिए सार्थक और सर्वव्यापी एक ऐसे लोक की रचना करने की भूमिका, जिसके अन्तर्गत जिया गया मनुष्य का सारा सामाजिक जीवन उसे जीवन का परमार्थ उपलब्ध कराता है और जो परमार्थ सभी को धारण करना होता है, जो सभी को एकसूत्र में बाँधता है। हम एक ऐसे युग में रह रहे हैं जिसे हाइडेग्गर ने मूलगामी नकारवाद (रैडीकल निहिलिज़्म) की संज्ञा दी थी; और जो एक ऐसी दीर्घकालीन प्रक्रिया की परिणति है जो यूनानी दर्शन-शास्त्र के अभियान के साथ आरम्भ हुई—नीत्शे के शब्दों में, सुकरात की प्रलम्बित परछाई के नीचे। तो, हाइडेग्गर के कथनानुसार पश्चिम की सभ्यता के विश्व-सभ्यता में प्रसृत और परिणत होने के साथ ही यह 'नकार' का अधिकार सम्पूर्ण पृथ्वी को निगल लेने को उतारू है। यदि हम फ़िलहाल इस विषय के विशुद्ध दार्शनिक पहलू को एक तरफ रखदें और मानवीय धार्मिकता पर ही ध्यान केंद्रित करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि 'सेकुलराइज़ेशन' की इस विश्वव्यापी घटना पर—जो कि हमारे आधुनिक जीवन-संसार का एक महत्त्वपूर्ण घटक बन चुकी है—उस पर मनन करना कितना दुर्निवार्य हो उठा है। पश्चिम में इस 'सेकुलराइज़ेशन' के प्रस्फुटन की कथा कई बार दुहराई जा चुकी है और बहुत सारी बहस इसी सवाल के इर्द-गिर्द केन्द्रित हुई है कि कहाँ तक सेकुलराइज़ेशन के बीज पश्चिम की बाइबिली परम्परा द्वारा फैलाए गए, किस प्रकार वे 'प्रोटेस्टेंटिज़्म' के अभ्युदय के साथ प्रस्फुटित हुए; किस तरह हाल के बरसों में कुछ धर्मतत्त्वज्ञों ने इस घटना का सकारात्मक मूल्यांकन करते हुए उसे शेष विश्व को पश्चिम की अद्वितीय देन बताया है, और किस तरह कुछ दूसरों ने पीटर बर्गर की तरह इस पर शोक प्रकट करते हुए 'पावनता की यथार्थ में सिकुड़ती पहुँच' का उल्लेख करते हुए इसका दोष 'प्रोटेस्टेन्टिज़्म' पर डाला है कि उसी ने सर्वप्रथम धर्म की पावनता से अभिन्न तीन सर्वाधिक प्राचीन और शक्तिशाली विभूतियों से वंचित किया : रहस्य, चमत्कार और जादू से।

जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, इस्लाम: ओल्ड टेस्टामेण्ट वाले सेकुलराइज़ेशन के बीजों की विरासत के साथ भी: हिन्दुओं के सकलतावादी (होलिस्टिक) जीवन-लोक के

भीतर ज्यादा नहीं भिद सका, जिस तरह कि, बौद्धधर्म भी आधुनिकता नामकी चीज़ की धार्मिक परिवेश में दीर्घकाल तक उपस्थिति रहने के बावजूद नहीं भिद सका था। मुख्यतः तो आधुनिकता नाम की चीज़ की 'प्रोटेस्टेण्ट' धारा का ही प्रभाव पड़ा: वह धारा जो उन्नीसवीं सदी में आ जुड़ी अन्य धाराओं के साथ पश्चिमी दुनिया के स्त्री-पुरुषों के जीवन में सबसे ताकतवर सिद्ध हुई। भारत में राममोहन राय के द्वारा प्रवर्तित सुधार-आंदोलन अपनी प्रेरणा मुख्यतः प्रोटेस्टेण्ट ईसाइयत से ही ग्रहण करता था—ठीक उसी तरह जिस तरह कि उसकी आधुनिकता भी उपयोगितावाद और बुद्धिवाद के समसामयिक विचार—प्रवाहों से पुष्ट हुई थी। राममोहन राय को पश्चिम के व्यवहारोपयोगी ज्ञान और राजनीतिक स्वांतत्र्य के नए विचारों के प्रचार-प्रसार की गहरी आवश्यकता अनुभव हुई। प्रोटेस्टेण्ट सुधार का मॉडल सिर्फ विल्बरफोर्स और ग्राण्ट के दिमागों में ही नहीं था जो कि अंततः सन् १८१३ में यहाँ ईसाइयत के प्रचार-प्रसार की छूट प्राप्त करने में कामयाब हुए; न वह केवल सीरामपुर के मिशनरियों तक ही सीमित था। वह तो राममोहन राय के मस्तिष्क में भी विद्यमान रहा; भले फिर ऐसे पुनर्जागरण के आशय के बारे में उनकी व्याख्या इन लोगों से कितनी भी अलग क्यों न रही हो। भारत में प्रोटेस्टेंट उपस्थिति की 'लौकिकताकारक' प्रवृत्ति की प्रभावशालिता का प्रमाण है ब्रह्म समाज की स्थापना। इतना ही नहीं, दूसरे सुधार-आन्दोलनों का बीज भी वहीं समझना चाहिए। 'ओरिएण्टलिस्ट' विद्वानों के प्रति राममोहन राय के आकर्षण का कारण भी वही था। यों हम यह भी देख और दिखा सकते हैं कि प्रोटेस्टेण्ट मिशनरियों के साथ राममोहन राय का जो सम्बन्ध था उसमें वे यहां पश्चिम के लौकिक ज्ञान-विज्ञान के प्रसार में उनकी मदद भर चाहते थे। 'एनलाइटेनमेण्ट' लाने में उनके प्रभाव का उपयोग कर लेने में ही उनकी दिलचस्पी थी न कि उनकी धार्मिक सीखों में। ज्यादा से ज़्यादा शायद यही कहा जा सकता है कि उन्होंने 'यूटिलिटेरियनिज़्म' के प्रति थोड़ी सहानुभूति जताई। यों जहाँ तक धर्मदृष्टि का प्रश्न है, उनके लिए उनके देश की ज़रूरत की पूर्ति उसकी अपनी परम्परा के धर्मग्रंथों से ही अच्छी तरह हो जाती थी: हालांकि यहाँ भी उनकी चयनधर्मी व्याख्या एक ओर प्रोटेस्टेण्ट उदाहरण से प्रभावित हुई और दूसरी ओर इस्लाम की उनकी समझ से, जिसे कि उन्होंने मिशनरियों के सम्पर्क में आने से पहले ही पुख्ता कर लिया था। हेनरी वेयर को संबोधित एक पत्र में राय लिखते हैं:—"यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान तथा ईसाई नैतिकता के जितने भी सुयोग्य शिक्षक भारत आ सकें, उनका सहर्ष स्वागत है; हालांकि ईसाई नैतिकता को मैं ईसाई मतवादों से मुक्त पाना चाहूंगा, देशवासियों में ज्ञान के प्रसार हेतु। इस प्रकार, भारत के आधुनिक जीवन—संसार को आकार देने में ईस्ट इंडिया कम्पनी के आगमन से भी तीन सदी पहले यहाँ विराजमान कैथोलिकों ने भी वैसी भूमिका नहीं निभाई जैसी प्रोटेस्टेण्टों ने। और इसका कारण था प्रोटेस्टेंटिज़्म में निहित लौकिकीकरण की शक्तियाँ। इस प्रकार आधुनिकता में दीक्षित होकर भारत भी लौकिकीकरण के एक विश्व-व्यापी अभियान में भागीदार तो बन ही गया है।

पिछले दिनों इस विश्व-व्यापी घटना के विरुद्ध ईसाई जगत् में आवाज़ें उठने लगीं

हैं। विरोध का यह स्वर वहाँ धार्मिक विचारकों और दार्शनिकों की ओर से उठा है और भारत में भी हमारे अधिकतर चिंतकों की ओर से। इससे पूर्व कि हम विकास की दौड़ में और आगे छलाँग लगाएँ; इससे पूर्व कि हम रहस्य, दिव्यता और पावनता का जितना जो कुछ भी हमारे यहां अवशिष्ट है उसे भी 'अन्धविश्वासों' के खाने में पटक कर छुट्टी पा जाएँ; इससे पहले कि हम इस दिव्यता और पावनता को अपने जीवन-संसार से सदा-सदा के लिए निष्कासित करके उसे महज़ 'सांस्कृतिक विरासत' में घटा डालें—उसके साथ अपना सारा जीवित सम्बन्ध ही नष्ट कर दें, क्या यह अत्यावश्यक नहीं कि हम बैठकर अपनी इस संकटापन्न परिस्थिति पर गंभीरता से विचार करें : फरिश्तों की अफवाह को ही सही, ज़िन्दा रखने के लिए विचारकों की हैसियत से कुछ कदम उठाएँ? प्रश्न यही है कि हम कैसे क्या करें कि वह पावनता का आयाम हमारे जीवन-जगत् में झलकता रह सके—जहाँ से कि देवत्व का आलोक एक बार फिर प्रकट हो : 'जो है' उसके सत्य के साक्षात्कार तक हमारी पहुँच फिर से संभव बनाने के लिए। सौभाग्य की बात यह है कि लौकिकीकरण की प्रक्रिया, जब अपनी यहूदी-ईसाई आधारभूमि से स्थानान्तररित करके एक दूसरी धार्मिक मिट्टी में रोपी जाती है, तब वह एक भिन्न रूपाकार में प्रकट होती है; यानी, नई धार्मिक मिट्टी से उसका रिश्ता वैसा नहीं रह जाता जैसा वह पश्चिम में है। हिन्दू जिज्ञासु के लिए इस तरह समस्या का आकार-प्रकार भी भिन्न हो जाता है और इसलिए उसका हल खोजने का प्रयत्न भी भिन्न ही होगा। भिन्न और विशिष्ट : हालाँकि अपरिभाषित ढंग से हिन्दू। मैं खुद अपने तईं इस कार्य को करने का मार्ग नहीं जानता—सिवाय उसके जिसे भाष्य का मार्ग कहा जाता है। अर्थात् मेरी परम्परा के पावन वाङ्मय में से जो सार्थक और सत्य वाणी मुझे सुनाई पड़ती है उसके पुनर्भाष्य का मार्ग। यह कार्य—कहना न होगा कि—एक दार्शनिक पुरुषार्थ की माँग करता है और इसे पुराणपंथी विद्वत्ता को नहीं सौंपा जा सकता। न इसे भारतीय विश्वविद्यालयों में इस घड़ी जिस प्रवृत्ति का प्रभुत्व है—दर्शन-कर्म के लौकिकीकृत अवधारणा का—उसी से मनमाने ढंग से पृथक् किया जा सकता है। अपना ही उदाहरण लूं, मेरा खुद का जींवन-कार्य ही आधुनिक सेकुलर हवाओं से कहाँ अछूता रह सका है कि मैं नितान्त प्रश्नविहीन और निश्शंक भाव से अपने परम्परागत संस्कारों को अपने सोच-विचार और जीवन में लागू कर सकूँ! किन्तु साथ ही, चूँकि परम्परा के साथ मेरा सम्बन्ध-सूत्र अभी पूरी तरह विच्छिन्न भी नहीं हुआ है अतः दूसरी ओर, मैं आधुनिक जीवन-जगत् को भी प्रामाणिक या मानकस्वरूप मानकर नहीं चल सकता। न उसमें भागीदार होने मात्र से मुझे यह अधिकार मिल जाता है कि उन परम्परागत प्रतिमानों पर फतवा दे सकूँ जो अभी भी अपनी समूची गरिमा और अधिकार के साथ मुझ तक पहुँच सकते हैं।

हमारे यहां संस्कृत में अभिव्यक्त धार्मिक और दार्शनिक परम्परा में भाष्यधर्मी चिंतन का बहुत लम्बा इतिहास रहा है, और इससे परे भी, इसका बहुत कुछ भाष्य-लेखन का इतिहास रहा है। इस भाष्यधर्मी प्रयत्न के इतिहास में हम तीन प्रमुख बिंदुओं को पहचान सकते हैं। पहला, ऋग्वेद-संहिताः वैदिक वाङ्मय का मूल ग्रन्थ, जिसमें उपनिषद् भी

शामिल हैं। लेकिन प्राचीन विद्वानों की बहुत सारी भाष्यकारी ऊर्जा ब्राह्मण–ग्रंथों और औपनिषद् वाङ्मय पर खर्च हुई है जो मूलग्रंथ से ही प्रवाहित हुई और जिस प्रवाह में स्वयं संहिता की लगभग पूर्ण उपेक्षा हो गई। दूसरा नाभिकीय बिंदु है महाकाव्य-परम्परा, विशेषकर महाभारत, का जो विस्तृत भाष्यात्मक परीक्षण की मांग करता है। इसलिए कि महाभारत काफी हद तक मिथक, प्रतीक और विचार-सामग्री की वैदिक निधि के स्थानान्तरण, भाषान्तरण और पुनर्व्याख्या को समाहित करता है : ठीक उसी तरह, जिस तरह यह कालान्तर में पौराणिक परम्परा में भी अन्तःप्रविष्ट हो गया। हम देखते हैं कि महाभारत तक आते-आते वैदिक काल की तुलना में काफी अन्तर आ गया है। एक समूचा जीवन-लोक रूपान्तरित हो चुका था और नए अर्थों के संप्रेषण के लिए एक नवगठित भाषा में सर्जनात्मक चिंतन की नई अभिव्यंजना-प्रणालियों की आवश्यकता भी अनुभव की जा रही थी।

इस समूची परम्परा का सारग्रहण और सर्जनात्मक भाष्य करने वाला तीसरा महाप्रयत्न है–भागवतपुराण, जो आठवीं सदी में रचा गया। हिन्दू धर्मजीवन का यह केंद्रीय ग्रंथ है और वेदान्त के विविध संप्रदायों में भी इसकी भरपूर मान्यता और महिमा है। साथ ही यह भक्ति का, उसके समस्त वैष्णव संप्रदायों में, आधारभूत धर्मग्रंथ है। इसकी प्रभावशालिता का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि न केवल संस्कृत के धार्मिक साहित्य में, बल्कि संस्कृत-युग की समाप्ति के अनन्तर (पंद्रहवीं सदी के आस-पास) भी इसे हम उन देशी भाषाओं के साहित्यों में गहरे अनुप्रविष्ट देख सकते हैं जो कि कालान्तर में पनपीं और अभी तक निरन्तर रचनाशील चली आ रही हैं। एक तरह से देखा जाय तो, भागवत की मुख्य वस्तु और प्रेरणाओं के सृजनात्मक स्वायत्तीकरण द्वारा इन भारतीय भाषाओं में रचे गए धार्मिक साहित्य ने मूलग्रंथ को विस्थापित सा कर दिया : विद्वज्जनों को अब मूलग्रंथ पर एकाग्र होने की वैसी ख़ास ज़रूरत नहीं रह गई। इसलिए भी अब यह उपयुक्त अवसर है कि हम वापस इस स्रोत तक लौटें और अपने 'आधुनिक' वर्त्तमान के परिप्रेक्ष्य में इसकी पुनर्व्याख्या के समान दायित्व को हाथ में लें। यह महा ग्रंथ, मेरा दावा है, समूचे विश्व के धार्मिक साहित्य में अद्वितीय है–इस अर्थ में कि यह इस सच्चाई का सर्वश्रेष्ठ निदर्शन है कि किस तरह हमारी प्राक्-सैद्धान्तिक भाव-वृत्तियाँ सब कुछ ('जो है') से हमारे सम्बन्ध को नियंत्रित करती हैं। उसी बुनियाद पर बाद में हम अपनी सैद्धांतिक इमारतें खड़ी करते हैं। महान् कवि-कर्म के द्वारा यह ग्रंथ न केवल मानव-हृदय के मूल भावों की आद्य-प्राथमिकता को पकड़ कर साकार करता है— पूर्व युगों के धार्मिक साहित्य की स्मृति जगाता हुआ, बल्कि यह भी दर्शाता है कि किस प्रकार (जैसा कि ऑगस्तीन और पास्कल का भी कहना है) "हम सत्य के गर्भगृह में केवलमात्र औदार्य (चैरिटी) के मार्ग से ही प्रवेश कर सकते हैं"; क्योंकि दिव्य और पावन के राज्य में वस्तुएं, जैसी वस्तुतः वे हैं उन्हें वैसे ही जानने और अनुभव करने के लिए पहले उनके साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है, न कि इसका उलटा।

हाल के बरसों में मैंने इन तीनों क्षेत्रों में से प्रत्येक में थोड़ी बहुत खोजी घुसपैंठ करने की कोशिश की है : उन मार्गों के अन्वेषण की चिंता करते हुए जिनका अवलम्बन करके मनुष्य इन सच्चाइयों के बारे में बात कर सकता है, उन दूसरों के साथ संवाद कर सकता है जो आधुनिकता के इस संकट में साझेदार हैं : फिर चाहे वे मानववादी हों चाहे संगठित धर्मों के अनुयायी। किन्तु इन प्रयत्नों के पीछे जो असली ध्येय है वह इस घटना को समझना है कि कैसे हिन्दू जीवन-लोक में उन्नीसवीं सदी पूर्वार्द्ध के भारत में आधुनिकता के प्रवेश के साथ एक ज़बर्दस्त उथल-पुथल की शुरुआत हुई और इसके कारण धार्मिक चिन्तकों पर कैसा–क्या दायित्व आता है। यहाँ भी सबसे गहरी समस्या हमारी हज़ार बरस पुरानी सामाजिक–राजनीतिक व्यवस्था की धार्मिक बुनियादों में पैदा हुई उथल-पुथल का सूक्ष्म परीक्षण करना है : उन मूल्यों और मानों का भी जो हमारे सार्वजनिक और निजी जीवनों को अनुशासित करते रहे थे : न्याय-सम्बन्धी हमारे विचारों को भी और सार्वजनिक जीवन की हमारी व्यवस्था को भी। 'होमो इक्वालिस' की व्यापक पश्चिमी विचारधारा के बरअक्स 'होमो हायरार्किकस' की जो हमारी विलक्षण भारतीय धारणा है-सामाजिक जीवन के लिए सर्वोच्च सिद्धांत स्वरूप–वह भी एक ऐसे विचारणीय प्रश्न का उदाहरण है। वह भी ऐसे भाष्यात्मक जिज्ञासा और अन्वेषण का विषय है जो अपने दायरे में 'विचारधारा' की भी समुचित समीक्षा प्रस्तुत कर सके और वर्णाश्रम के प्रश्न के धार्मिक आयाम पर भी समुचित ध्यान एकाग्र कर सके। उस सीमा तक ये प्रश्न केवल सामाजिक व्यवस्था के ही नियामक सिद्धांत न होकर धर्म-जीवन की व्यवस्था के भी मूलभूत सिद्धान्त हैं। जैसाकि बहुत सारी केंद्रीय महत्त्व की पश्चिमी अवधारणाओं के साथ हम देखते हैं, संस्कृत में ऐसा कोई शब्द नहीं जो 'सैक्रेड' या 'होली' की अवधारणा का एकदम सटीक पर्याय कहा जा सके। कई भारतविदों के कथनानुसार इस अभिप्राय का स्थान भारत में शुद्ध और अशुद्ध की ध्रुवीयता ने ले लिया है। और हममें से बहुत सारे लोग, जिन्हें परम्परागत कट्टरता का अनुभव है, वे जानते होंगे कि व्यवहार में इसके माने क्या हैं। प्रश्न यह है कि भारतीय परम्परा के कुल सन्दर्भ में ये शब्द क्या अर्थ रखते हैं–उस परम्परा में जो अपने वैदिक मूल से विकसित होकर ठेठ वर्तमान तक निन्तर प्रवहमान है ? यह भी, कि क्या कोई भाष्यात्मक ढंग से सुसंगत विकल्प है : ईसाइयत के इस अकर्मण्य, अपरावर्तित स्वीकार का, उस ईसाइयत का, जो अपने वर्तमान संस्करण में 'सेकुलराइज़्ड' और इसीलिए अनाम है ? क्या उस हल का भी कोई विकल्प है जिसे गाँधीजी ने सुझाया था ? क्या यह वांछनीय नहीं होगा कि हम स्वयं गाँधीजी के जीवन और चिंतन में पवित्र की धारणा की भूमिका का परीक्षण करें और उसमें भी इस बात का कि विचार एवं आचार की जैन तथा वैष्णव परम्पराओं ने उनकी पवित्रता-सम्बन्धी मान्यताओं को किस तरह गढ़ा या प्रभावित किया ? क्या प्राचीन भारतीय परम्परा में 'नेचुरल लॉ' से मिलती-जुलती, उसके समकक्ष कोई चीज़ है ? यदि हाँ, तो उसके साथ किस तरह का धार्मिक विधि-विधान जुड़ा था, और आंग्ल-भारतीय कानून-व्यवस्था के इस देश में लागू किये जाने के बाद उसकी प्रभावशीलता को क्या हो गया है ? निश्चय ही ये बहुत बड़े प्रश्न हैं,

जो बहुत विस्तृत विश्लेषणात्मक और आलोचनात्मक प्रयत्न की मांग करते हैं। हमारी धर्म-चेतना में आए परिवर्तन को समझने के लिए हमें उन ताकतों की गहरी तहकीकात करनी होगी जिन्होंने यह सारा उलट-फेर घटित कर डला। हमें अपनी उन सारी गति-विधियों का पुनर्मूल्यांकन करना होगा जिनके चलते तर्कसंगति, आधुनिकता और मानवीय न्यायशीलता के सर्वथा वैध सरोकारों के नाम पर हमने जाने कितना कुछ, जो अपना था, उसे उठाकर फेंक दिया। या फिर हम यही मानकर संतुष्ट हो जाएँ कि जीवन में पावन या दिव्य की हमारी स्मृति पूरी तरह नष्ट हो चुकी है और हम यह देख पाने तक में अक्षम हो गए हैं कि हम दैवी दीप्ति से रिक्त वंचित संसार में रह रहे हैं। अपने अंतिम दिनों में हाइडेग्गर को जिन चीज़ों से सबसे ज़्यादा खुशी होती थी उनमें एक वह चिट्ठी भी थी जो सोवियत यूनियन के एक दार्शनिक ने उसे लिखी थी। उस चिट्ठी में लिखा था कि सोवियत रूस में अब कुछ लोग हाइडेग्गर-होल्डरलिन की इस बात का मर्म कुछ-कुछ समझने लगे हैं कि "हम एक ऐसे युग में रह रहे हैं जिसमें से दैवी दीप्ति उड़ गई है।"

'विकासशील' भारत देश से श्रद्धालुता, पावनता और सदाचारी जीवन-बोध के चिह्न अभी पूरी तरह मिटे तो नहीं हैं और, कम से कम, जो भाषा हम बोलते हैं वह भी अभी तक अरिक्त नहीं हुई है। प्रश्न यह है कि दार्शनिक चिंतक उस सनातन प्रकाश को हम लोगों के जगद्-बोध से सर्वथा तिरोहित हो जाने से बचाने के लिए क्या कर सकता है और कैसे कर सकता है? एक राष्ट्र के रूप में हमारी जो भी आकांक्षाएँ हों, उन्हें क्षति पहुँचाए बिना एक समूची प्रजा के रूप में हम जो अनुभव करते रहे, उसकी लौ को हम बुझने से कैसे बचाएं?

अभी तक के हमारे विवेचन का परिप्रेक्ष्य मुख्यतः दार्शनिक ही रहा और विषय-निर्वाह भी अपेक्षाकृत एक अमूर्त स्तर पर ही हुआ है। किन्तु जिस प्रकार की समस्याओं से हम यहां जूझ रहे हैं उनकी अधिक मूर्त और सगुण चर्चा के लिए हमें समाज-चिंतकों के निकट जाना होगा। आल्फ्रेड शुल्ज़ ने, जिनका काम दैनिक जीवन के सहज बोध-परक संसार की संरचना पर एकाग्र है, ऐतिहासिक-सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन-लोक का अध्ययन किया है, और उनका अनुसरण करते हुए पीटर बर्गर ने भी सामाजिक धरातल पर संरचित और सुरक्षित 'लाइफ-वर्ल्ड' का विवेचन किया है। "किसी भी मानवीय समूह के दैनन्दिन यथार्थ को पूरी तरह समझने के लिए।" बर्गर के शब्दों में—

"यह पर्याप्त नहीं है कि व्यक्तिगत परिस्थितियों के प्रतीकों और आपसी क्रिया-प्रतिक्रिया के विन्यासों को समझ लिया जाय। हमें अर्थ की उस सम्पूर्ण संरचना को भी समझने का प्रयत्न करना होगा जिसके अन्तर्गत ये विशेष प्रतीक और विन्यास सन्निहित हैं, और जहाँ से वे अपनी सामूहिक रूप से साझा की जाने योग्य सार्थकता प्राप्त करते हैं।.... दैनिक जीवन की प्राक्-सैद्धान्तिक चेतना ही अर्थों का वह वितान है जो व्यक्ति को सामान्य घटनाओं और दूसरों के साथ अपने जीवन की टकराहटों के बीच से अपनी नाव खे ले जाने

की सामर्थ्य प्रदान करता है। इन्हीं अर्थों की वह सम्पूर्णता, जिसका कि वह अन्य लोगों के साथ साझा करता है, वही, कुल मिलाकर एक विशिष्ट सामाजिक जीवन-लोक है।"

मैक्स शीलर के सुझावों से प्रेरणा ग्रहण करते हुए कार्ल मैनहाइम और वोर्नर स्टार्क का कालान्तरवर्ती कृतित्व उस शास्त्र की नींव डालता है जिसे 'ज्ञान का समाजशास्त्र' कहते हैं, और इसीने पीटर बर्गर के उस चिंतन को भी प्रेरणा दी है जिसमें आधुनिकीकरण की प्रक्रिया की सहवर्तिनी धर्म-चेतना के उतार–चढ़ावों पर (पश्चिम में, अथवा विकासशील देशों में) ध्यान दिया गया है: खासकर आधुनिक चेतना की निर्मिति में निहित अवयवों के विशिष्ट एकत्रीकरण पर। आधुनिक चेतना को परिभाषित करने वाली इन चारित्रिक विशिष्टताओं में बर्गर जिन चीज़ों को गिनाता है वे इस प्रकार हैं: एक तो संकटापन्न अस्मिता का स्थायी सा रहने वाला भाव; दूसरे, सामाजिक जीवन-संसारों की बहुलता, जिसके कारण अब धार्मिक परम्पराओं के लिए इस बहुत्व को एकीकृत करना दिनोंदिन कठिन होता जा रहा है:—एक व्यापक विश्व-दृष्टि के अन्तर्गत उन्हें समाहित करना उनके लिए सचमुच टेढ़ी खीर है; तीसरी और अन्तिम विशेषता है लौकिकीकरण की वह सार्वभौम घटना जिसने धर्म को व्यक्ति का निजी मामला बनाकर धर दिया है।

बर्गर के इस सारे विवेचन का उपसंहार, सच पूछा जाए तो उसके इस कथन में निहित है कि "आधुनिक मनुष्य गृहहीनता के ही गहराते संकट से ग्रस्त है: यह उसकी तत्त्वमीमांसीय क्षति है।" विकासशील देशों में हम देखते हैं कि परम्परागत सामाजिक जीवन में आधुनिकता की घुसपैठ और उन दो प्रतीकात्मक संसारों के बीज की टकराहट ने जो विचारधारागत प्रतिक्रियाएं उत्पन्न की हैं वें अलग-अलग संस्कृतियों में अलग-अलग तरह की हैं। औद्योगीकृत दुनिया में इस आधुनिकता से उपजे असंतोष की काफी चर्चा हुई है और अब लोग आधुनिकोत्तर चेतना की बात करने लगे हैं–जीवन-संसार के उन दूसरे विकल्पों की जो आधुनिकता द्वारा प्रस्तुत विकल्पों से भिन्न हैं। विशेषकर अब ऐसे विकल्प की खोज आरंभ हुई है जिसमें धर्मजीवन की पुनरुपलब्धि मनुष्य के लिए संभव हो सकेगी और एक प्रभावसिक्त पावनता का लोक मनुष्य को फिर से सुलभ होगा। वास्तव में, उन्नत देशों में आधुनिकीकरण के साथ-साथ आधुनिकीकरण-विरोधी प्रवृत्तियाँ भी प्रगट हो रही हैं और विकासशील देशों में भी ये प्रवृत्तियाँ उभार पर हैं। जहाँ तक भारत का प्रश्न है, रुडोल्फ़ की 'दि मॉडर्निटी ऑव ट्रेडीशन' हमारी परिस्थिति को काफी यथातथ ढंग से विवेचित करती जान पड़ती है। भारत में अभी गाँधीजी की स्मृति अवशिष्ट है, जिनका अपना सामाजिक जीवन-संसार एक विशिष्ट आद्यबिम्ब प्रस्तुत करता है उस सब कुछ की तीक्ष्णतम चेतना का जिस पर विध्वंस और विस्मरण का खतरा मँडरा रहा था। दूसरे शब्दों में, मानवीय जीवन की पवित्रता और सत्याश्रितता का बोध, और उसके साथ-साथ स्वयं उनकी अपनी जीवन-प्रणाली में इस दुर्घटना को टालने और उस अखंडता और पावनता के बोध को ठेठ सामाजिक राजनीतिक कर्म द्वारा वापस लौटा लाने का लगभग अतिमानवीय प्रयत्न आज के मानवीय जीवन-लोक की रक्षा के निमित्त अग्रसर है। किन्तु उन सरीखे कर्मज्ञ के बाद अब आज एक

कवि या चिन्तक या विद्वान् के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण ध्येय और कर्त्तव्य क्या हो सकता है? निश्चय ही नए भाषिक विन्यासों, अभिव्यक्ति और संवाद की नई प्रणालियों की खोज। जैसा कि बर्गर ने लिखा है :

"संवाद का उपकरण यथार्थ की सुरक्षा का उपक्रम करता है। यथार्थ से तात्पर्य यहां किसी भी काल में, किसी भी समाज में जिसे यथार्थ कहा जाता है, उसकी अनुभूति से है। तो अनुभव के विविध तत्त्वों के बीच संवाद के द्वारा ही यह सुरक्षा संभव होती है और इसी प्रकार संसार में उनकी सही जगह भी निर्धारित होती है। संवाद की यह यथार्थोत्पादन-शक्ति भाषिक विषयकरण के तथ्य के रूप में पूर्वप्रदत्त है। भाषा ही किसी जीवन-लोक को साकार करती है : उसे ग्राह्य बनाने और उसे उत्पन्न करने के दुहरे अर्थ में।....."

हमारे सन्दर्भ में, संवाद और सृजनात्मक भाषिक रचनाशीलता द्वारा एक सर्व-सामान्य जीवन-जगत् में पावन की पुनःप्रतिष्ठा और पुनरुपलब्धि—जहाँ तक मैं देख पाता हूँ—हमारे अपने धर्म-ग्रन्थों के साथ एक अधिकाधिक जीवन्त और संवेदनक्षम वार्तालाप के रूप में प्रगट होनी चाहिए। यह एक ऐसा पुरुषार्थ है जिसके लिए 'हर्मेन्यूटिक्स' का विद्वत्तापूर्ण नाम सुझाया गया है। यही मेरी समझ में वह एकमात्र मार्ग है जिस पर चलते हुए हमारी अपनी प्रभासिक्त और पावन परम्परा की मूल शब्द-राशि और बीज-शक्ति हमारे लिए पुनः मर्थोद्घाटक रूप में उजागर हो सकती है।

गतांक में प्रकाशित "उन्मीलन-गोष्ठी" की प्रतिक्रियाओं का उत्तर

अहिंसा ,करुणा, महाकरुणा

हर्षनारायण

गताङ्क में प्रकाशित मेरे लेख 'करुणाः हमारे सांस्कृतिक प्रकर्ष का प्रतीक' पर उन्मीलन-गोष्ठी में जो प्रतिक्रियाएँ प्रकाश में आयी हैं उन पर मैं किञ्चित् चकित हूं।

मेरी स्थापना है कि 'संस्कृति का अर्थ है मानव की गति-प्रगति हिंसा से अहिंसा की ओर, स्व से पर की ओर, करुणा से महाकरुणा की ओर, महाकरुणा से बोधि सत्त्वोचित लोक-संग्रह की ओर, लोकसंग्रह से परिनिष्पन्न आत्मौपम्य दृष्टि की ओर, और अन्ततः आत्मौपम्य दृष्टि से आत्मैक्यदृष्टि की ओर।' श्री यशदेव शल्य इसे निराधार अथवा एकाङ्गी मानते प्रतीत होते हैं। उन की दृष्टि में 'विभिन्न संस्कृतियों के विभिन्न चरित्र और गुण हैं।' वे शायद यह कहना चाहते हैं कि ऐसी भी संस्कृतियाँ हो सकती हैं जिन की प्रगति अहिंसा से हिंसा की ओर हो अथवा अहिंसा-भिन्न किसी अन्य चरित्र या गुण की ओर हो। मैं समझता हूं कि हिंसा से संस्कृति बनती नहीं, बिगड़ती है। अहिंसा की ओर प्रगति ही संस्कृति हो सकती है, हिंसा की ओर प्रगति तो प्रकृति, प्राकृतिक दशा/प्राकृत दशा का लक्षण है। और संस्कृति के हिंसा से अहिंसा के अतिरिक्त किसी अन्य चरित्र अथवा गुण की ओर उन्मुख होने का अर्थ व्यवहारतः अहिंसा की ही ओर उन्मुख होने के बराबर है।

असंस्कृत अथवा ईषत्संस्कृत समाज में प्राप्य हिंसा के विविध प्रकट और प्रच्छन्न रूपों की बानगी लीजिए—

1. एक राज्य के दूसरे राज्य पर आक्रमण की खुली छूट और सर्वस्वीकृति।

2. दास-प्रथा, एक मानव के दूसरे मानव द्वारा शोषण के आज निन्दित रूपों की स्वीकृति

3. अभिभावकों और अध्यापकों द्वारा बच्चों के प्रति क्रूरता—कठोरता का व्यवहार

4. प्रतिहिंसात्मक अथवा प्रतिशोधात्मक दण्ड-व्यवस्था, दण्ड के क्रूर, निर्दयतापूर्ण प्रकार

5 सेना में रेडक्रॉस जैसी सेवा-संस्था का अभाव

6. पशुओं के प्रति अनावश्यक क्रूरता

7. स्त्री को सम्पत्ति मान कर उस का मनमाना शोषण

8. विचारहीन अवदमनों, वर्जनाओं, प्रतिबन्धों के कारण कुण्ठा, घुटन, और आत्म-हिंसा जैसी स्थिति

9. समाज-सेवा, लोक-कल्याण, सामाजिक न्याय, आरोपित अक्षमता (डिसेबिलिटी) के निवारण की भावना का अभाव। (कुष्ठरोगी को मरने के लिए छोड़ दिया जाता था।)

यह सूची बढ़ायी जा सकती है, अधिक गहराई में उतर कर नयी शब्दावली में प्रस्तुत की जा सकती है। अस्तु '

अब, आप क्या नहीं देखते कि संस्कृति के विकास के साथ-साथ इन हिंसा-पदों में कमी आती गयी है ? यदि गति विलोम होती तो संस्कृति का विलोप हो जाता। यहाँ किसी एक संस्कृति का सन्दर्भ नहीं है, 'अपनी संस्कृति' का भी नहीं, यह संस्कृति मात्र के विषय में चरितार्थ है। अहिंसोन्मुखता संस्कृति का स्वरूप लक्षण है, तटस्थ लक्षण अथवा आगन्तुक धर्म नहीं। अहिंसोन्मुखता संस्कृति के संस्कृतित्व का अभिन्न अङ्ग है।

वस्तुतः दर्शन कोई निगमनात्मक विज्ञान (डिडक्टिव सायन्स) नहीं, वह ठोस ऐतिहासिक-सांस्कृतिक-मानवानुभूतिक सन्दर्भ में ही फलोन्मुख होता है।

इस दृष्टि से विचारने पर स्पष्ट हो जाता है कि शल्य जी द्वारा उठाये गये प्रश्न उठने योग्य नहीं, अतः शल्य जी को शिकायत नहीं होनी चाहिए कि वे प्रश्न मुझे प्रस्तुत क्यों नहीं हुए।

शल्य जी की दृष्टि में जैन अहिंसा बौद्ध महाकरुणा से अभिन्न है। मैं आलोच्य लेख में दिखा चुका हूं कि जैन दृष्टि के अनुसार करुणा सावद्य, सदोष, और मुनि धर्म-विरुद्ध है, कि उसमें अहिंसा के लिए कोई अवकाश नहीं, कि बौद्ध करुणा को पूरा महत्त्व देते हुए उसे महाकरुणा तक ले जाते हैं। वस्तुतः करुणा जैन अहिंसा के बहिर्भूत है जब कि बौद्ध महाकरुणा के अन्तर्भूत है, जैन अहिंसा ऐन्टी-कम्पैशनिस्टिक कही जा सकती है जब कि बौद्ध महा-करुणा ट्रान्स—कम्पैशनिस्टिक। यही कारण है कि जैन आचार्यों ने बुद्ध की कारुण्यवृत्ति की

खिल्ली उड़ायी है। हेमचन्द्र उन्हें 'स्वमांसदानेन वृथा कृपालुः' (अयोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका) कह कर कटाक्ष करते हैं और उन के दया-करुणा वश व्याघ्र को अपना शरीर अर्पित करने पर उन का उपहास करते हुए कहते हैं : (योगशास्त्र 2.1)

निपत्य ददतो व्याघ्र्याः स्वकायं कृमिसंकुलम् ।
देयादेयविमूढस्य दया बुद्धस्य कीदृशी ? ।।

सिद्धसेन भी 'कृपणेषु जन्तुषु' कृपा-दृष्टि के लिए बुद्ध की आलोचना करते हैं। (द्वात्रिंशद्-द्वात्रिंशिका सिद्धसेन 1.7)हेमचन्द्र ने तो उन देवताओं का भी उपहास किया है जो करुणा के वशीभूत होकर धरती पर अवतरित होते हैं (अयोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका, 18)।

निस्सन्देह कालान्तर में जैन-नय में भी करुणा का प्रवेश हो जाता है। पहले जैन करुणा को एक मोहमयी प्रवृत्ति, राग की परिणति, समझते हुए उसे धर्म का अङ्ग नहीं मानते थे, बल्कि अधर्म के रूप में गृहीत करने की ओर उन्मुख दिखायी देते थे। फिर लोक-कर्षणार्थ करुणा-प्रेरित कार्यों-लोककल्याणार्थ वाप्ती, कूप, तडाग, आदि का निर्माण आदि— को न तो निषेधयोग्य और न विधानयोग्य घोषित कर के तटस्थ से होने लगे, पुनः करुणा की गणना बौद्धों की देखा देखी पुण्यस्कन्ध के रूप में करने लगे। अब कतिपय जैन मुनि उसे मोक्ष मार्ग तक की संज्ञा दे डालते हैं। किन्तु मौलिक्य जैनधर्म-दर्शन की स्थिति वही है जो ऊपर के अनुच्छेद में निरूपित की गयी है।

करुणा और महाकरुणा का भेद निर्दिष्ट करते हुए मैं ने लिखा था कि करुणा व्यक्तिपरक होती है और महाकरुणा व्यक्तिमात्र-परक, प्राणिमात्र-परक। भावार्थ यह है कि करुणा का आलम्बन व्यक्ति/व्यष्टि अथवा उस का दुःख होता है जबकि महाकरुणा का आलम्बन समष्टि अथवा दुःख-समष्टि। सामान्य जन की करुणा तब प्रस्फुटित होती है जब वह किसी को दुःख झेलते हुए देखता है, जबकि सम्यक्सम्बुद्ध दुःख-सामान्य (सफरिंग-यूनिवर्सल) का द्रष्टा होता है, त्रिकाल-दुःख का साक्षात्कर्ता होता है; अतः सम्यक्सम्बुद्ध की करुणा महाकरुणा होती है। सामान्य व्यक्ति की करुणा सत्त्वावलम्बना होती है, व्यष्टि-दुःख के साक्षात्कार से जन्म लेती है, जब कि सम्यक्सम्बुद्ध की करुणा-महाकरुणा वस्तुधर्म 'सर्वं दुःखम्'/दुःख-सत्य का साक्षात्कार करके सतत प्रवाहित रहती है। दोनों में क्षेत्र-भेद-मात्र है - एक व्यक्ति-विशेष तक सीमित है, दूसरी प्राणि-मात्र तक प्रसृत, सर्वसंग्राहिका, सिनॉप्टिक, विश्वकरुणा। अब इस क्षेत्र-भेद की परिणति प्रकार-भेद में भी हो जाय तो कोई विशेष बात नहीं, मूल भेद क्षेत्र-भेद ही रहा।

शल्य जी समझ बैठे हैं कि दुःख बौद्ध धर्म-दर्शन के अनुसार रोग-शोकात्मक न हो कर केवल अविद्यात्मक होता है, कि मैं भी यही मानता हूं, कि बुद्ध की करुणा-महाकरुणा इसी को लेकर प्रवृत्त होती है, और कि अतएव बौद्ध करुणा-महाकरुणा जैन अहिंसा से तत्त्वतः अभिन्न है। शल्य जी ने मेरे लेख में पता नहीं दुःख के भेदत्रय को कैसे दुर्लक्ष्य कर लिया, अन्यथा उन की साढ़े-तीन पृष्ठ की टिप्पणी कम से कम एक तिहाई कम हो जाती। पुनरुक्ति के लिए विवश हूं—बुद्ध के अनुसार शारीरिक और मानसिक दुःख-दुःखदुःखता-भी दुःख है, सुख

की क्षणभंगुरता—विपरिणाम-दुःखता भी दुःख है, और संसार की नश्वरता—संसार-दुःखता भी दुःख है। स्थिरमति अधिक बिस्तार में जाता है। अतः बुद्ध की करुणा-महाकरुणा इन तीनों दुःखों को लेकर प्रवृत्त होती है, और जैन अहिंसा में ऐसी कोई गुंजाइश नहीं है। उसका स्वारस्य, उसकी इतिश्री, केवल प्राणातिपात-रूप पाप से बचाने में निहित है। जैन अहिंसक/अहिंसाभ्यासी/अहिंसा-साधक किसी का प्राण-हरण नहीं करना चाहेगा, किसी को पीड़ा पहुँचाना नहीं चाहेगा, किन्तु वह मरणासन्न अथवा पीड़ित की दशा देख द्रवित होने को सदोष मानेगा और फलतः वह वह सब करने में प्रवृत्त नहीं हो सकेगा जो एक कारुणिक करना चाहेगा। वह (जैन) अन्न-पान आदि की समस्या हल करने के लिए बड़े-छोटे तालाब आदि बनवाने की कर्तव्यता पर भी प्रश्न चिह्न लगाना चाहेगा। वह तत्सम्बन्धी विधि और निषेध दोनों के प्रति तटस्थता बर्तेगा। वह जैनाचार-विहीन 'असंयमी' बुभुक्षित को जिमाने में पाप समझेगा। वस्तुतः वह अ-प्राणिहिंसा से आगे बढ़ ही नहीं पाता।

प्यासे को पानी पिलाने की इच्छा करुणा-प्रेरित है। जिस की कारुण्यवृत्ति अधिक व्यापक है वह वापी, कूप, तडाग खुदवायेगा, जलकल लगवायेगा, रोजगार के नये अवसर तलाश करेगा। आज अनेक धार्मिक पुरुष भूखे-प्यासे को अन्न-पान आदि का दान तो धर्म समझते हैं किन्तु भाखड़ा-नंगल, रिहांड आदि विशाल जलाशयों का निर्माण भौतिकवादिता घोषित करते हैं। वस्तुतः भूखे-प्यासे व्यक्ति-विशेष के प्रति उद्भूत करुणा साधारण कोटि की करुणा है, देश-विशेष के निवासियों की भूख-प्यास की निवृत्ति के लिए जलाशयों आदि की व्यवस्था व्यापकतर करुणा है, और प्राणि-मात्र के दुःख के प्रति जागरूक करुणा महाकरुणा है। भिखारी को दान देना धर्म का कार्य है, किन्तु ऐसी व्यवस्था कर देना कि किसी को भिखारी बनने की आवश्यकता ही नहीं हो, महाधर्म है।

जैन अहिंसा और बौद्ध करुणा-महाकरुणा का सब से प्रखर अन्तर तो इस तथ्य में निहित है कि बोधिसत्त्व अपने वैयक्तिक (अतः स्वार्थमूलक) निर्वाण को ठुकरा कर जगत् के दुःख दैन्य के निवारण में प्रवृत्त होता है, जब कि जैन मुनि अपने मोक्ष से सन्तुष्ट हो जाता है। यदि अहिंसा और महाकरुणा में अभेद होता तो उनके परिणाम इतने भिन्न नहीं होते।

मैंने लिखा था कि जैन मुनि वापी, कूप, तडाग आदि खुदवा कर असंख्य प्राणियों की प्यास की निवृत्ति का उपाय करना है अथवा नहीं, इस पर तटस्थ हो जाता है, न तो इसका निषेध करता है और न विधान। मौलिक्य जैन परम्परा में इस के विधान का प्रश्न ही नहीं उठता, जब कि बौद्ध परम्परा में पूरी तरह उठता है। इस भेद पर ध्यान न दे कर शल्य जी लिखते हैं कि जैनों की एतद्विषयक ताटस्थ्यवृत्ति का यह अर्थ नहीं कि रोग और शोक-ग्रस्त की पूरी सहायता का प्रयत्न जैन मुनि का अनिवार्य कर्तव्य नहीं है। प्रश्न है, जब अनिवार्य है तो विधि क्यों नहीं? क्या आप को यहाँ 'वदतो व्याघात' चरितार्थ नहीं दीखता? अच्छा, आप इस प्रकार की अनिवार्यता की स्वीकारोक्ति मौलिक्य जैन-धर्म-दर्शन में कहीं भी दिखला दें।

शल्य जी को बोधिचर्यावतार में प्राप्त करुणा अथवा महाकरुणा के उद्गार "नितान्त निरुद्विग्न जैन मुनि" के-से उद्गार प्रतीत होते हैं। अरे भाइ, ज़रा जैन शास्त्रों की ओर भी तो झांक कर बतलाइए वहाँ ऐसे उद्गार कहां मिलते हैं, और यदि नहीं तो क्यों नहीं मिलते। तत्त्व ज्ञान की भाषा में भेद होता है। शल्य जी फ़तवे पर फ़तवा देते जाते हैं, जिन का कोई शास्त्रीय आधार नहीं, तिस पर तुर्रा यह कि वे इसे दार्शनिकता समझते हैं।

वस्तुतः बोधिसत्त्व को कोरा निरुद्विग्न मुनि समझ लेना भूल है। वह जीवों की मुक्ति के आगे अपनी निजी मुक्ति को तुच्छ समझता है, जबकि निरुद्विग्न जैन मुनि अपनी मुक्ति को सब-कुछ समझ लेता है।

आगे तो उन्होंने मेरे लेख पह मनमाने आरोप आरम्भ कर दिये हैं। वे समझते हैं कि मैं औपनिषद् सर्वात्मैक्यवाद और बोधिचर्यावतार के समता-सिद्धान्त को आत्मौपम्य दृष्टि के अन्तर्गत रखा रहा हूं। कदापि नहीं। औपनिषद् परम्परा आत्मौपम्य-दृष्टि से आत्मैक्य-दृष्टि की ओर सङ्क्रमण कर जाती है जब कि महायान का आचरशास्त्र आत्मौपम्य-दृष्टि से आगे नहीं जाता। मैंने मूल लेख में बोधिचर्यावतार और चतुःस्तव के जो उदाहरण दिये हैं उन्हें शल्य जी ज़रा ठीक से देख लें। वस्तुतः वहीं मैंने 'आत्मैक्यदृष्टि का उन्मेष' उपशीर्षक के अन्तर्गत जो तालिका दी है उस से भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि आत्मैक्य-दृष्टि आत्मौपम्यदृष्टि को पीछे छोड़ जाती है। औपनिषद् सिद्धान्त में भेद औपाधिक हो सकता है, किन्तु आत्मैक्यदृष्टि के स्तर पर, नकि आत्मौपम्यदृष्टि के आरम्भबिन्दु पर।

इस सूक्ष्म भेद तथा अभेद के तत्त्व को न समझने का आरोप मुझ पर लगाते हुए और उसी सांस में उक्त भेद को स्वयं अनदेखा करते हुए शल्य जी अद्वैत दृष्टि पर प्रश्न उठाते हैं, मेरे में और अन्य में अभेद होने पर पड़ोसी पड़ोसी ही नहीं रहता, वह तो मैं ही हो जाता है, ऐसी अवस्था में मैं यहाँ स्थित अपने को कष्ट दे कर वहाँ स्थित अपने को हो रहे कष्ट के निवारण के लिए क्यों प्रवृत्त होऊँ ?' अरे भाई, इस प्रकार का अभेद केवल आत्मैक्यदृष्टि के स्तर पर सम्भव है, आत्मौपम्य दृष्टि पर नैतिकता परवान चढ़ती है और आत्मौपम्यदृष्टि की आधारशिला आत्मैक्यदृष्टि में निहित है। व्यवहारतः आत्मौपम्य दृष्टि, परमार्थतः आत्मैक्यावगति के स्तर पर यहाँ-वहाँ का प्रश्न नहीं उठता। वही व्यवहार में संक्रान्त हो कर आत्मौपम्यदृष्टि का रूप ले लेती है। इस भेद को ध्यान में न रखने के कारण शल्य जी वर्ग-व्यामिश्रण (क्लास-कन्फ्यूज़न/कैटिगरी-कन्फ्यूज़न) का शिकार हो गये हैं।

वस्तुतः आत्मैक्य की चर्चा उस तल (अपरोक्षानुभूति) की ओर ले जाती है जहाँ आत्मैक्य, आत्मैक्यानुभव, और आत्मैक्यानुभविता तीनों अभिन्न और एक हो जाते हैं और 'विकल्पयोनयः शब्दाः' तथा 'विकल्पाः शब्दयोनयः' शान्त हो जाते हैं।

शल्य जी ने मेरे द्वारा उल्लिखित कारुण्यवृत्ति के उदाहरणों को ले कर करुणा और कर्त्तव्यता में भेद दिखलाने की चेष्टा की है। शिवि का उदाहरण लें। शल्य जी लिखते

हैं, 'शिबि की प्रेरणा शरणागत की रक्षा की कर्त्तव्यता थी, करुणा नहीं। शरणागत की रक्षा का सम्बन्ध वीरता और साहस से था, करुणा से नहीं।...यह कर्त्तव्य मुख्यतः क्षत्रिय का ही था, ब्राह्मण या वैश्य का नहीं।' शिवि के जो दो अपेक्षया अप्रसिद्ध श्लोक हम ने उदाहृत किये हैं उन में तो केवल प्राणियों के दुःख के निवारण तथा उनके बदले स्वयं दुःखभाक होने की प्रार्थना पायी जाती है और साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि शिवि को उसके अतिरिक्त न राज्य चाहिए और न परलोक आदि। दूसरी बात, शिवि यदि शरणागत कपोत की रक्षा में अपना क्षात्र धर्म, राज धर्म, निभा रहे थे तो उन्होंने श्येन पक्षी को दण्डित न कर के अपने शरीर का मांस क्यों अर्पित किया? शल्य जी रन्ति देव का वाक्य एक बार पढ़ लें। वहाँ भी सब कुछ त्याग कर दुःख भोगने वाले जीवों को अदुःख करने के अतिरिक्त कोई चाह नहीं है। वस्तुतः शरणागत कपोत को हिंस्र श्येन से स्वमांसदान द्वारा बचाने की 'कर्तव्यता' करुणाप्रेरित नहीं तो क्या राजनीतिशास्त्र-प्रेरित है? राजा के कर्तव्यों में क्या इस की कहीं गणना की गयी है?

आगे शल्य जी यह दिखाना चाहते हैं कि अहिंसा और करुणा हमारी संस्कृति के मुख्य चारित्रिक गुण नहीं हैं। और साथ ही यह भी लिखते हैं कि वैष्णवों, जैनों, बौद्धों, और गांधी जी ने अहिंसा (और करुणा) को महत्त्व दिया। चलिए यही सही। क्या यह कम है? उन चारों स्रोतों से उभरी हुई मानसिकता का भारतीय संस्कृति ने स्वागत किया, उसे आत्मसात् किया: गोमांस भक्षिणी 'आर्य' जाति ने निरामिषाहार का पथ प्रशस्त किया; महाभारत ने घोषणा की कि अहिंसा से बड़ा कोई धर्म नहीं है, और कि

ब्राह्मणे दारुणं नास्ति, मैत्रो ब्राह्मण उच्यते।
आचार्यः सर्वभूतानां शास्ता किं प्रहरिष्यति?॥

मेरे लेख का शीर्षक कृपया दोबारा पढ़ें — करुणा हमारे सांस्कृतिक प्रकर्ष का प्रतीक है; पूरी संस्कृति, अथवा कोई भी संस्कृति, आरम्भ से ही अहिंसक अथवा करुणा-प्रधान नहीं होती, भारतीय संस्कृति भी नहीं, किन्तु भारतीय संस्कृति ने जो तत्सम्बन्धी प्रकर्ष, उत्कर्ष, वैशिष्ट्य विकसित किया वह किसी अन्य संस्कृति ने नहीं; जी हाँ अपवादभूत ईसाई संस्कृति ने भी नहीं। वस्तुतः संस्कृति का संस्कृतित्व उस के प्रकर्ष में ही अन्वेषणीय होता है। अन्यथा, प्रत्येक गुण-दोष प्रत्येक संस्कृति में किसी न किसी सीमा तक विद्यमान होता ही है।

शल्य जी ने स्वयं स्वीकारा है कि भारतीय मनीषा का वैशिष्ट्य दो बिन्दुओं पर दिखायी देता है, एक सम्यक्संम्बुद्ध की महाकरुणा जो शल्य जी के अनुसार दयालुताविवर्जित है और दूसरा गांधी जी अहिंसा। यहां शल्य जी भागवतों, जैनों, साङ्ख्यों, कतिपय आजीविकों की अहिंसा एकबारगी भूल गये। वे इस के बाद लिखते हैं, 'इस [द्विविध] वैशिष्ट्य में उत्कृटता भी है, यह पृथक् प्रश्न है, जिसके लिए युक्ति की अपेक्षा है।' मैंने जिस प्रकार संस्कृति की व्याख्या की है उस से यह अपेक्षा किसी सीमा तक पूरी हो जाती है। तथापि इस पर अभी बहुत कुछ कथ्य शेष है, जिस का यह अवसर नहीं।

डॉ. राजेन्द्रस्वरूप भटनागर मेरा प्रमुख कथ्य नहीं पा सके। प्रमुख कथ्य का प्ररूपक लेख-शीर्षक उपस्थित है। मेरे लेख में भारतीय संस्कृति के प्रकर्ष की एक झलक देने के लिए उसके करुणा-पक्ष का प्रतिपादन करने की चेष्टा की गयी है, साथ ही साथ अहिंसा के स्वरूप पर किञ्चित् प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत हुआ। साथ ही साथ अहिंसा, करुणा, और महाकरुणा के भेद स्पष्ट करने पड़े। लेख का अन्त इस महायान-सिद्धान्त की ओर संकेत से होता है कि करुणा-महाकरुणा सभी बोधि-धर्मों का मूल है, करुणा साधने से सब सध जाते हैं। मुझे तो अपना कथ्य तिरोहित या अविद्यमान नहीं लगता।

लगता है कि डॉ. भटनागर को शिकायत है कि मैंने नैतिकता के केवल दो ही रूपों की चर्चा की है, जब कि उन के अनुसार नैतिकता के अनेक वैकल्पिक रूप हो सकते हैं। होंगे, मैं नैतिक दर्शन का विवेचन अथवा नैतिकता का विश्लेषण करने नहीं चला हूँ। मेरा प्रतिपाद्य सीमित है, जिस के अन्तर्गत सभी वैकल्पिक रूपों को समेटना अथवा लक्षित करना आवश्यक नहीं जान पड़ा।

डॉ. भटनागर के अनुसार मेरे लेख में 'बोधिसत्त्व की सङ्कल्पना को लोकसंग्रह की सङ्कल्पना का पूर्वगामी बताया गया है।' कहाँ? मुझे वह स्थल नहीं मिल रहा है।

यदि मैंने डॉ भटनागर को सही-सही समझा है तो वे यह कहना चाहते हैं कि लोक-संग्रह की सङ्कल्पना मानवीय है, जब कि बोधि-सत्त्व की सङ्कल्पना अतिमानवीय, और कि अतएव दोनों नैतिकता के दो सर्वथा बेमेल स्तरों से सम्बन्ध रखती हैं। मैं समझता हूं कि नहीं। स्वकीय निर्वाण को तिलांजलि दे देने, सब का पाप और दु.ख अपने ऊपर ले लेने, सब पापियों के बदले स्वयं नरक में बसने की तत्परता अवश्य ही अतिमानवीय स्तर की 'नैतिकता' है। तथापि बोधिसत्त्वादर्श में लोकसंग्रह का मानवीय आदर्श गतार्थ है। बोधिसत्त्व में केवल उक्त अतिमानवीयता ही नहीं होती, मानवीयता भी कूट-कूट कर भरी होती है। वह सब का निर्वाण ही नहीं चहता, सब के अन्न, पान आदि को व्यवस्था की भी चिन्ता करता है।

हाँ, यह बात दूसरी है कि इतिहास में कम-से-कम मुझे एक भी बोधिसत्त्व दिखायी नहीं देता। किन्तु उसके निकटतम उदाहरण के रूप में हातिम ताई का नाम लिया जा सकता है, अलबत्ता ऐतिहासिक हातिम ताई से अधिक उस काल्पनिक हातिम ताई का जिस की कथा अरबी साहित्य की एक बहुमूल्य निधि है।

भटनागर जी की टिप्पणी का शेषांश मैं समझ नहीं पा रहा। और पता नहीं उनके जिन बिन्दुओं को मैंने ऊपर छुआ है उन्हें भी मैंने ठीक-ठीक समझा है अथवा नहीं।

इन्द्रप्रस्थ भारती

हिन्दी अकादमी की त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका

संपादक : डॉ. नारायणदत्त पालीवाल

यदि आप चाहते हैं कि बेहतर पढ़ने को मिले तो आपकी इस ज़रूरत को

'इन्द्रप्रस्थ भारती'

हिन्दी अकादमी की साहित्यिक त्रैमासिक पत्रिका पूरा करती है, जो महज एक पत्रिका नहीं किताब है।

जिसमें वर्ष भर में छः सौ पृष्ठों की साहित्यिक सामग्री उपलब्ध कराई जाएगी, जिसमें देश के ज़िम्मेदार लेखक हिस्सेदारी करेंगे।

यह पत्रिका समकालीन साहित्य का रचनात्मक मूल्यांकन और गतिविधियों को प्रस्तुत करती है। एक सौ बावन से अधिक पृष्ठ को इस पत्रिका के एक अंक का मूल्य पाँच रुपये, वार्षिक बीस रुपये। आपका सहयोग हमें बेहतर सेवा के लिए और अधिक प्रोत्साहित करेगा।

वार्षिक शुल्क मनीआर्डर/बैंक ड्राफ्ट/पोस्टल आर्डर द्वारा इस पते पर भेजें :—

सचिव,
हिन्दी अकादमी, दिल्ली
ए–26/27, सनलाइट इंश्योरेंस बिल्डिंग,
आसफ अली रोड, नई दिल्ली – 110002.

उन्मीलन-गोष्ठी

विचार्य विषय : सत्यमेव जयते
प्रस्तोता : प्रकाशकुमार श्रीवास्तव

इस बार की उन्मीलन-गोष्ठी का आयोजन काफी लम्बे अन्तराय के बाद 12-4-90 को हुआ। बैठक में निम्न लिखित ने भाग लिया : प्रोफेसर दयाकृष्ण, श्री अवनिमोहन घोष, डॉ. नन्दकिशोर शर्मा, डॉ. राजेन्द्रस्वरूप भटनागर, डॉ. प्रकाशकुमार श्रीवास्तव, डॉ. कन्हैयालाल शर्मा (संयोजक), डॉ. मुकुन्द लाठ, डॉ. सरला करला, डॉ. योगेश गुप्ता, श्री यशदेव शल्य, तथा प्रस्तुत लेखिका।

डॉ. श्रीवास्तव ने "सत्यमेव जयते" पद को विचारार्थ प्रस्तुत करते हुए कहा कि इस उक्ति का सर्वप्रथम कहां, किसने प्रयोग किया, इसका मुझे कुछ पता नहीं है किन्तु यह एक आदर्श वाक्य या सूक्ति के रूप में हम रोज़ बोलते-सुनते हैं। इसी प्रकार की कुछ और सूक्तियां भी हैं, जैसे सा विद्या या विमुक्तये, यतो धर्मस्ततो जयः, विद्या ददाति विनयम् आदि, जो सर्व-प्रचलित हैं। ये तथ्यात्मक हैं, मूल्यात्मक हैं या परिभाषात्मक हैं? विचाराधीन वाक्य "सत्यमेव जयते" को लें—यह आनुभविक है, प्रागनुभविक है, या कि आंतर बोधात्मक है? इसी प्रकार, क्या यह उक्ति देश-कालगत घटना-विषयक है या कि देश-कालातीत तत्त्व-विषयक, या कि उभयस्तरीय? या कि इसे पारिभाषिक रूप में लेते हुए यह कहा जा सकता है कि जिसकी जय होती है वही सत्य है, अथवा कहें, सत्यपरक कौन है और असत्यपरक कौन, यह निर्णय विजय के अनन्तर ही संभव है।

इसी प्रकार, जय-पराजय का प्रश्न 'अन्ततोगत्वा-विषयक है या कि 'प्रतिपदे' विषयक—सर्वदा विषयक?

इस उक्ति में 'जय-पराजय' और 'सत्त्व-असत्त्व' इन शब्द-युग्मों का क्या अर्थ है?

क्या इस जय का अनुभव संभव है ? यदि हां, तो अनुभव-कर्त्ता कौन होता है और उस अनुभव में पराजित तत्व के रूप में क्या असत्य का होना अनिवार्य नहीं है ? क्योंकि जय का अनुभव पराजय के कम से कम कल्पित प्रत्यय के व्यावर्तन के बिना संभव नहीं हो सकता।

यदि यह जय अनुभवातीत स्थिति है तो क्या यह पद निरर्थक नहीं है ? सत्य और जय के बीच सम्बन्ध क्या है ? केवल प्रत्ययात्मक, आनुभविक, काल्पनिक, या कि मूल्यात्मक ?

डॉ. श्रीवास्तव द्वारा इस प्रकार विभिन्न विकल्प प्रस्तुत करने के बाद डॉ. नन्दकिशोर शर्मा ने बहस का प्रवर्तन करते हुए कहा कि इस पद को तथ्य-वाचक के रूप में नहीं लिया जा सकता, क्योंकि साधारणत: अनुभव में हम सदैव सत्य की विजय नहीं देखते, इसे वास्तव में मूल्यात्मक पद के रूप में ही देखना चाहिये: कि "सत्य को ही विजयी होना चाहिए," कहें "समाज को ऐसा होना चाहिए कि सत्य-असत्य के द्वन्द्व में सदैव सत्य की ही विजय हो।" इस पर डॉ. मुकुन्द लाठ ने कहा कि यह पद मूल्यात्मक अर्थ में अभिप्रेत नहीं है, यह वास्तविकता-वाचक अर्थ में ही अभिप्रेत है। अवश्य समाज में असत्य भी पनपता है और बहुत बार वह सत्य पर विजयी होता है किन्तु ऐसा वह अपने को सत्य के रूप में प्रकट करके ही होता है, असत्य रूप में प्रकट करके नहीं। इसका समर्थन करते हुए श्री घोष ने कहा कि असत्य सत्य का उपजीवी होकर ही अपने को स्थापित करता है, वह अपने स्वयं के आश्रय से नहीं रह सकता। इस पर श्रीशल्य ने कहा असत्य द्वारा सत्य का बाना लेकर विजयी होना तो असत्य का दुहरा होकर विजयी होना है। इस पर डॉ. लाठ, श्री घोष तथा डॉ. (कु.) सरला करला ने कहा कि असत्य का सत्य के बाने में विजयी होना वास्तव में अन्तत: सत्य की विजय होना है क्योंकि असत्य का स्वरूप प्रकट हो जाने पर वह पराजित हो जायगा, इस प्रकार अन्तत: विजय सत्य की ही होगी।

इस सारे विचारविमर्श में एक अन्तर्धारा यह थी कि ये सब उक्तियां निदर्श वाक्यों के रूप में प्रचलित हो जाती हैं, इनका वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इन्हें मूल्यात्मक वाक्य भी कह सकते हैं।

इस पर शल्य जी ने कहा कि उनके विचार में युगों से समाज में प्रचलित और प्रथित ऐसी उक्तियां मनुष्य की संचित प्रज्ञा की द्योतक होती हैं इसलिए इनमें गंभीर सत्य अन्तर्निहित होना चाहिए और इस उक्ति में वास्तव में यह सत्य निहित है, और यह उक्ति मूल्यात्मक अर्थ में नहीं बल्कि तथ्यात्मक अर्थ में ही अभिप्रेत है। इस उक्ति का थोड़े विस्तार से विवेचन करते हुए उन्होंने कहा :

साधारण रूप से इस पद का अर्थ यही है कि सन्मार्गानुगामी व्यक्तियों और समुदायों का असन्मार्गानुगामी व्यक्तियों और समुदायों से संघर्ष होने पर अन्तत: सन्मार्गानुगामियों की ही विजय होती है, किन्तु यह हम स्पष्टत: ही देखते हैं कि ऐसा अधिकांश में नहीं होता।

ऐसा कोई नियम हो, इसके लिए कोई आधार भी दिखायी नहीं देता। किन्तु अस्तित्व के गहनतर स्तर पर इस पद की सच्चाई देखी जा सकती है। इसे अस्तित्व–जगत् में सत् और असत् के बीच द्वन्द्व के रूप में देखा जा जा सकता है और तब हम पाते हैं कि सत् की असत् पर विजय के कारण ही जगत् का अस्तित्व बना रहता है। व्यक्ति अपने दैहिक स्तर पर अस्वास्थ्य के रूप में अपने जैव सत्त्व को असत्त्व से आक्रान्त पाता है और उसका जीवन में बना रहना असत् पर सत् की विजय का द्योतक होता है। अवश्य सब व्यक्ति मरते हैं, किन्तु यह असत् की विजय नहीं होकर जीव-धर्म है, इस धर्म के आश्रय से जीव व्यक्ति के रूप से मरकर जाति के रूप में जीवित रहता है। इसी प्रकार चेतना के स्तर पर व्यक्तियों और समाजों को देखना चाहिए। व्यक्तियों और समाजों में यह द्वन्द्व संहति और बिखराव के बीच, व्यवस्था और अव्यवस्था के बीच, ज्ञान और अज्ञान के बीच तथा विवेक और अविवेक के बीच निरन्तर चलता है। अवश्य इस द्वन्द्व में असत् पूर्णतः नष्ट और पराजित नहीं हो जाता किन्तु सत् उस पर यदि हावी नहीं रहता हो तो व्यक्ति और समाज का अस्तित्व ही संभव नहीं हो। वास्तव में मनुष्य के सृजनों को भी इस द्वन्द्व के रूप में ही देखना चाहिए : सृजन चेतना द्वारा असत् के आवरण के भेदन का प्रयत्न है, इसी से प्रत्येक सृजन अपने प्रत्ययगत रूप से न्यून होता है। किन्तु मानव-चेतना निरन्तर इन सृजनों के माध्यम से अपने स्वरूपगत सत् को सिद्ध करने के लिए असत् के आवरण के भेदन के लिए उद्विग्न रहती है। यह पुनः सत् द्वारा असत् पर अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करना है।

यहां डा. दयाकृष्ण ने इस पद को सामाजिक संदर्भ में लाते हुए कहा कि वास्तव में समाज में, समुदायों और देशों के बीच संघर्षों में, सत्य-असत्य का प्रश्न वैसा नहीं रहता जैसा इन पदों से साधारणतः हम समझते हैं। साधारणतः दोनों पक्ष अपने को सही मानकर चलते हैं और यह निर्णय सहज नहीं होता कि सत्य पर कौन है और असत्य पर कौन? किन्तु मनुष्य अपने कार्य में इस निष्ठा के साथ ही प्रवृत्त होता है कि उसे सत्य की विजय स्थापित करनी है। इसके अनतर डॉ. भटनागर ने इस प्रश्न पर अपने विचार रखे। उन्होंने कहा :—

'सत्यमेव जयति' एक पुनरुक्ति जैसा प्रतीत होता है। यदि 'जयति' से यह आशय लें कि 'विजयी रहेगा',अथवा 'अन्ततः विजयी रहेगा' तथा 'सत्य' को 'सत्'का पर्यायवाची मानें तब 'सत्यमेव जयते' के द्वारा इतना ही कहा जा रहा है कि 'सत् ही सत् रहेगा', 'सत्' के अतिरिक्त किसी का: 'असत्' का: होना संभव नहीं हो सकता। मुण्डकोपनिषद् के मन्त्र 3.6 में 'सत्यमेव जयति, नानृतं' का यही आशय लगता है। साधारणतया पुनरुक्ति सत्य होती है परन्तु उस से बोध में कोई वृद्धि नहीं होती। परन्तु कभी-कभी पुनरुक्ति किसी सत्य के साक्षात्कार निमित्त भी होती है। जो सदा से है, जो स्वतःस्पष्ट है, जो निरपवाद रूप से सत्य है वह प्रकाशमान् होते हुए भी मानो ओझल हो जाता है, तब बुद्धि के लिये उपर्युक्त प्रकार की पुनरुक्ति एकाएक एक प्रकाश पुंज का रूप ग्रहण कर लेती है।

परन्तु 'सत्य की ही जीत होती है अनृत या झूठ की नहीं' इसका व्यावहारिक सन्दर्भ क्या हो सकता है? कोई भी संघर्ष हो उसमें रत प्रत्येक पक्ष या दल को सत्य, धर्म या न्याय अपनी ओर लगता है। संघर्ष में जुटे रहना इस आशा से ही संभव होता है कि जिधर धर्म है

उधर ही जीत भी होगी। परन्तु सत्य, धर्म, न्याय वस्तुतः किधर है, इसका निर्णय कौन कर सकेगा? छुटपुट संघर्ष में तात्कालिक हार-जीत परिणाम रूप ले सकते हैं, परन्तु सुदीर्घ संघर्ष, जिसमें संघर्षरत वे ही व्यक्ति नहीं रहते, के सन्दर्भ में अन्तिम जीत का क्या आशय हो सकता है? क्या संघर्ष के आत्यन्तिक अन्त की बात युक्तिसंगत हो सकती है? यदि ऐसा होता तो 'यदा यदा.....' के प्रसंग के लिये कहाँ स्थान होता? इस व्यापक फलक पर 'सत्यमेव जयते' एक ऐसे सम्बल के समान है जो मनुष्य के सार्थक कर्म को गति तथा दिशा देने में एक अनिवार्य भूमिका का निर्वाह करता है। प्रत्येक ऐसे अवसर पर, जब वह किसी महान कर्म का बीड़ा उठाता है, अनृत की शक्तियों से लड़ता है, तब यही मन्त्र उसमें शक्ति और आशा का संचार करता है।

तर्कतः अनृत या असत् का होना एक विरोधाभासी बात है। यदि अनृत असत् है तब किस से संघर्ष तथा कैसा संघर्ष? परन्तु केवल आप्तकाम के लिये यह अवस्था नहीं होती। साधारण जीव स्वयं अपने ससीम एवं अपूर्ण व्यक्तित्व के कारण अपने को एक ऐसी स्थिति में पाता है जहाँ जो अनृत है वह एक वास्तविकता के रूप में प्रकट होता है। इस अवस्था में ही तो हमारे सारे प्रश्न, हमारी सारी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। अनृत ऋत का नहीं होना है। पर यह स्थिति अन्तिम अथवा स्थायी स्थिति नहीं हो सकती। ऋत की ओर प्रत्यागमन अनिवार्य है: 'सत्यमेव जयते' का यही अर्थ होना चाहिए।

भगवती राव
पी-51, मधुवन पश्चिम
टोंक रोड, जयपुर - 302015

विषय-सूची

१. वाक्यपदीय में कारणता की अवधारणा	देवेन्द्रनाथ तिवारी	१
२. ज्ञान की विधाएं	नारायण शास्त्री द्राविड़	१५
३. नव्यन्याय में पक्षता	अरविन्दकुमार राय	२३
४. गीता में स्थितप्रज्ञ की पृष्ठभूमि का विवेचन	चन्द्रप्रकाश श्रीवास्तव	२६
५. आत्मकथा, परकथा और भारतीय परम्परा	मुकुन्द लाठ	३५
६. जीवन-लोक, पावनता और भाष्यात्मक चिंतन	जे. एल. मेहता	४५
७. अहिंसा, करुणा, महाकरुणा : प्रतिक्रियाओं का उत्तर	हर्षनारायण	६२
८. उन्मीलन-गोष्ठी	प्रस्तुति—भगवती राव	७१

आजीवन शुल्क :

व्यक्ति रु. २५०.००

संस्थाएं रु. २५००.००

वार्षिक शुल्क :

व्यक्ति रु. २०.००

संस्थाएं रु. ४०.००

दर्शन प्रतिष्ठान

पी–५१, मधुवन पश्चिम, टोंक रोड, जयपुर–३०२०१५

यशदेव शल्य द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर के लिए पी–५१, मधुवन पश्चिम, टोंक रोड, जयपुर से प्रकाशित एवं जे क प्रिन्टर्स, किसान मार्ग, टोंक रोड, जयपुर में मुद्रित ।